महाकविबिल्हणविरचितं

विक्रमाङ्कदेवचरितम्

प्रथमः सर्गः

सम्पादक : अनुवादक

डा० कमलेशदत्त त्रिपाठी

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

महाकविबिल्हणविरचितं

विक्रमाङ्कदेवचरितम्

प्रथमः सर्गः

अन्विताख्यया टीकया संवलितम्

सम्पादक : अनुवादक
डा० कमलेशदत्त त्रिपाठी
एम० ए०, डी० फिल् व्याकरण-धर्मशास्त्राचार्य
प्राच्यविद्या, धर्म-विज्ञानसङ्काय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

विस्तृतभूमिका-हिन्दी अनुवाद समन्वित

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

© मोतीलाल बनारसीदास
भारतीय संस्कृति साहित्य के प्रमुख प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता
मुख्य कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
शाखाएँ : १. चौक, वाराणसी-१. (उ० प्र०)
२. अशोक राजपथ, पटना-४. (बिहार)

प्रथम संस्करण : वाराणसी, १९७१
पुनर्मुद्रण : दिल्ली, १९७७
मूल्य : रु० ३.००

This book has been published on the paper supplied through the Govt. of India at concessional rate.

सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७ द्वारा प्रकाशित तथा शान्तिलाल जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस, ए-४५, फेस-१, इंडस्ट्रियल एरिया नारायणा, नई दिल्ली-२८ द्वारा मुद्रित ।

भूमिका

पश्चात्य विद्वानों की आलोचना प्रायः प्राचीन भारत में इतिहास-दृष्टि के अभाव का आरोप करती है। 'हिस्ट्री' की पाश्चात्य अवधारणा (Concept) में घटनाओं की ठीक-ठीक कालक्रम से और याथातथ्यपूर्वक, प्रस्तुति पर बहुत बल दिया गया है। जिस बात से पाश्चात्य विद्वान् अत्यधिक उद्विग्न और क्षुब्ध होते हैं, वह यह है कि भारतीय-मनीषा काल को निरवधि मानकर उसकी ठीक-ठीक आकलना और उल्लेख पर ध्यान नहीं देती। इसके साथ ही भारतीय दृष्टि संसार के घटना-प्रवाह में व्यक्तिविशेष की भूमिका को सर्वोच्च महत्त्व प्रदान कर उसके सारे विवरणों को प्रस्तुत करने में बहुत रुचि नहीं लेती। 'हिस्ट्री' के समानान्तर प्रयुक्त 'इतिहास' शब्द का अभिप्राय तिथिक्रम से घटनाओं का विवरण या व्यक्तिविशेष की भूमिका का उपस्थापन मात्र नहीं है, प्रत्युत जीवन के शाश्वत और आधारभूत सिद्धान्तों का महापुरुषों के जीवन में घटित होना और समूचे जातीय जीवन के उत्थान में उनके योगदान को अंकित करना है। इस दृष्टि से 'रामायण' और 'महाभारत' इतिहास कहलाते हैं। भारतीय 'इतिहास' समूचे जातीय जीवन, निखिल जातीयप्राण और पूरे के पूरे युग को सामने रख देते हैं, इसलिये वहाँ तिथि गौण है, जीवन का प्रवाह मुख्य है, व्यक्ति नहीं, जीवन के मूल्य और आदर्श केन्द्र में हैं।

फिर भी यदि तिथिक्रम का अनुरोध रखते हुए, व्यक्ति की भूमिका का मूल्याङ्कन करते हुए घटनाओं के सिलसिलेवार वर्णन के रूप में भारत के इतिहास का आकलन करना चाहे, तो उसके लिये भी प्राचीन भारतीयों ने प्रचुर सामग्री छोड़ी है। विशाल पुरातात्त्विक सम्पदा—अभिलेख, मुद्राएँ, प्राचीन भवन, मूर्तियाँ, चित्र, खिलौने, भाण्ड आदि के अतिरिक्त भाषा और साहित्य की सनातन, अविच्छिन्न परम्परा तथा जीवित संस्कृति। पुरातात्त्विक साक्ष्यों पर ही मुख्यतः निर्भर रहना चाहें, तो भी हमारी विशाल साहित्य राशि में सहायक एक अंश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसे 'ऐतिहासिक महाकाव्य' की संज्ञा दी गयी है। ये 'ऐतिहासिक महाकाव्य' भारतीय इतिहास के महत्त्वपूर्ण कालखण्ड के बारे में प्रचुर सूचना देते हैं और घटनाओं की अपनी प्रस्तुति में पाश्चात्य आलोचकों को भी सन्तोष प्रदान करते हैं। वाक्पतिराज का 'गउडवहो' पद्मगुप्त 'परिमल' का 'नवसाहसाङ्कचरित', कल्हण की 'राजतरङ्गिणी', हेमचन्द्र का 'कुमारपालचरित', सोमेश्वर की 'कीर्तिकौमुदी', अरिसिंह का 'सुकृतसङ्कीर्तन', बालचन्द्र सूरि का 'वसन्तविलास', जयानक का 'पृथ्वीराज विजय', सन्ध्याकर नन्दी का 'रामपालचरित', नयनचन्द्र सूरि का 'हम्मीर महाकाव्य' आदि इसी प्रकार के महाकाव्य हैं। इनसे प्रचुर ऐतिहासिक रचनायें प्राप्त होती हैं। विशेषतः कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' काश्मीर का इतिहास जिस प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करती है, वह किसी भी युग के इतिहास लेखक के लिये स्पृहणीय होगा। स्टीन जैसे आलोचक ने कल्हण के लिये कहा है—

"Honesty in a historian has not unjustly been called a forerunner of critical judgment in regard to contemporary history. Kalhana has manifestly endeavoured to be fair and impartial. May we not assume that the same feeling has helped to guide him rightly also in the opinions he formed of the past?[1]

निष्पक्ष दृष्टि, इतिहास के प्रवाह में आये प्रत्येक व्यक्ति के निजी व्यक्तित्व का अङ्कन, ऐतिहासिक सत्य की रक्षा, घटनाओं का प्रस्तुतीकरण, संक्षेप, तर्कानुमोदित तथ्य का उपस्थापन तथा भौगोलिक स्थिति का ठीक-ठीक विवरण कल्हण की विशेषताएँ हैं। कल्हण की यह दृष्टि न्यूनाधिक रूप में ऐतिहासिक महाकाव्यों की सामान्य दृष्टि है।

ऐतिहासिक महाकाव्यों के प्रणेताओं में कल्हण की ही भाँति उनके पूर्ववर्ती बिल्हण का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। कल्हण ने राजतरङ्गिणी में बिल्हण का उल्लेख किया है।[२]

बिल्हण का व्यक्तित्व—कवि बिल्हण ने अपने महाकाव्य 'विक्रमाङ्कदेवचरित' के अठारहवें सर्ग में स्वयं अपने विषय में महत्त्वपूर्ण सूचनायें दी हैं। इस विवरण के अनुसार उनका जन्म स्थल प्रवरपुर (श्रीनगर) से सार्धगव्यूति मात्र (३ कोस अथवा लगभग ६ मील) पर उत्तुङ्ग चैत्यों वाला 'जयवन' नामक स्थान था। इसी के निकट 'खोनमुष' नामक स्थान पर बिल्हण का जन्म हुआ।[3] यह स्थान अपने केसर और अंगूर के लिये प्रशंसित है--

"ब्रूमस्तस्य प्रथमवसतेरद्भुतानां कथानाम्,
किं श्रीकण्ठश्वशुरशिखरिक्रोडलीलाललाम्नः।
एको भागः प्रकृतिसुभगं कुङ्कुमं यस्य सूते,
द्राक्षामन्यः सरससरयूपुण्ड्रकच्छेदपाण्डुम्॥"

यहीं पर महाराज गोपादित्य ने मध्यदेश से कौशिकगोत्रीय ब्राह्मणों को बुलाकर बसाया था। इसी ब्राह्मण वंश में बिल्हण का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम ज्येष्ठकलश और माता का नाम नागदेवी था। उनके पितामह राजकलश और प्रपितामह मुक्तिकलश थे। बिल्हण के पिता ने महाभाष्य का व्याख्यान किया। बिल्हण कहते हैं—

---

1. Rājataraṅgiṇī—Ed.-M. A. Stein, Vol. I, Introduction, p. 32.
२. राजतरङ्गिणी—७।९३५-३७
३. 'खोनमुष' को आधुनिक 'खुनमोह' के रूप में पहचाना गया है। देखिये—
Cunningham—Anc. Geogr. p. 98
Stein—Rājataraṅgiṇī Notes 1.90, Vol. I, p. 16

"महाभाष्यव्याख्यां सकलजनवन्द्यां विदधतः,
सदा यस्य च्छात्रैस्तिलकितमभूत् प्राङ्गणमपि ॥"

ब्युहलर ने इसका तात्पर्य यह लिया है कि ज्येष्ठकलश ने महाभाष्य पर व्याख्या का प्रणयन किया, किन्तु आज वह अप्राप्य है। विन्टरनिट्ज[1] आदि विद्वान् इस तात्पर्य को स्वीकार करते हैं। किन्तु कुछ विद्वानों ने इस निष्कर्ष पर आपत्ति की है और इसका तात्पर्य इतना ही मानने का आग्रह किया है कि ज्येष्ठकलश महाभाष्य के व्याख्यान करने-पढ़ाने में अत्यन्त कुशल थे। इसी बात को श्लोक का उत्तरार्ध पुष्ट करता है कि जिसका प्राङ्गण भी सर्वदा छात्रों से तिलकित रहता था।[2] यह तर्क दिया गया है कि 'व्याख्या' शब्द का प्रयोग समालोचन के अर्थ में हुआ है। काश्मीर में 'व्याख्यास्थान' थे, जहाँ विद्वान् समालोचन किया करते थे। स्वयं बिल्हण ने दो स्थलों पर इसका उल्लेख किया है—

"उत्तुङ्गानां मणिगृहभुवां यत्र वातायनेषु,
व्याख्यामिख्याप्रणयिनि जगद्दुर्लभे सूरिचक्रे।
देवाः प्रोद्यद्विपुलपुलकाः किं न वर्षन्ति पुष्पै-
र्नाशङ्कन्ते यदि सुरगुरोस्तत्र वैलक्ष्यदीक्षाम् ॥"

द्राक्षापूर्णान्यखिलजनताभोगहेतोर्वनानि
व्याख्यास्थानान्यमलसलिला यस्य कूपाः प्रपाश्च।
स्थाने स्थाने सुकृतवसतेर्मण्डलाग्रावतंसा
धर्मस्याविष्कृतकलिभयस्याङ्गरक्षा बभूवुः ॥"

'व्याख्यां विदधतः' में 'विदधतः' पद में 'लट्' के स्थान पर 'शतृ' प्रत्यय 'व्याख्या करते हुए' अर्थ को बताता है, अतः 'व्याख्या करते हुए जिसका प्राङ्गण भी छात्रों से तिलकित हुआ' यह अर्थ अध्यापनपरक व्याख्यान अर्थ करने पर सङ्गत होता है, न कि टीकानिर्माणपरक अर्थ स्वीकार करने में।

जो भी हो, यह तो ठीक है कि काश्मीर में सहृदयगोष्ठियों में काव्यालोचन की परम्परा थी, इसी प्रकार शास्त्रालोचन की भी। यहाँ पर 'शास्त्रालोचन' अर्थ ग्रहण करने पर भी सङ्गति हो जाती है। किन्तु ज्येष्ठकलश एक ओर महाभाष्य पर व्याख्या का प्रणयन करते थे, दूसरी ओर उनके वैदुष्य के यश से उनका प्राङ्गण भी छात्रों से भरा रहता था—यह अर्थ स्वीकार

1. A History of Indian Literature, Winternitz, Vol. III, Part I, p. 94, Varanasi, 1963.

२. विक्रमाङ्कदेवचरितम्—प्रथम सर्गः, भूमिका, पृ० १७, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला–२७९, वाराणसी, १९६९।

करने में भी कहाँ असङ्गति है ? फिर भी इस विषय में मतभेद का निर्णय तब तक नहीं हो सकता, जब तक महाभाष्य की ज्येष्ठकलश निर्मित किसी व्याख्या को प्राप्ति अथवा असन्दिग्ध उल्लेख नहीं प्राप्त हो जाता।

अस्तु, बिल्हण को अत्यन्त विद्यासमृद्ध कुल में जन्म का गौरव मिला था। उनके बड़े भाई इष्टराम भी अत्यन्त पण्डित और राजसमादृत कवि थे—

"विद्वत्तायाः स खलु शिखरं प्राप यस्येष्टरामो
ज्येष्ठो भ्राता क्षितिपतिशतास्थानलीलावतंसः।
वक्त्रे काव्यामृतरसभरास्वादसक्तैर्यदीये
दृष्टा देवी सुकविजननी सा प्रपापालिकेव ॥"

उनके छोटे भाई 'आनन्द' की उक्तिचातुरी भी अप्रतिम थी। उनके साथ विवाद करने वाले कवियों की कीर्ति उनकी उक्तिरूपी कुल्हाड़ी से कट जाने पर फिर कभी जुड़ न पायी।

स्वयं बिल्हण ने भी गम्भीर अध्ययन किया था। साङ्गोपाङ्ग वेद का अध्ययन किया, व्याकरण और साहित्य विद्या का अवगाहन किया। कौन सा शास्त्र था, जो उनकी प्रज्ञा के दर्पण में प्रतिफलित नहीं हुआ—

"साङ्गो वेदः फणिपतिदृशा शब्दशास्त्रे विचारः
प्राणा यस्य श्रवणसुभगा या च साहित्यविद्या।
को वा शक्तः परिगणयितुं श्रूयतां तत्त्वमेतत्
प्रज्ञादर्शे किमिव विमले नास्य सङ्क्रान्तमासीत् ॥"

अपनी विद्या और सर्जनात्मक प्रतिभा के प्रति कवि बहुत सजग है। उसने स्वयं कहा है कि वाग्देवी की चरणरज के प्रभाव से विद्या-वधुएँ उसका आनन निहारती थीं। उसके सर्ग-बन्धों ने दिशा-दिशा में यशोविस्तार करने में कंचुकियों की भूमिका निभायी—

"चक्रं यस्याक्रियत वदनप्रेक्षि विद्यावधूनां
श्रीवाग्देव्याश्चरणरजसा कार्मणत्वं गतेन।
याताः सार्धं दिशि-दिशि पुनर्बन्धुराः सर्गबन्धाः
कीर्तेः पारिप्लवविदलने सौविदल्ला बभूवुः ॥"

अपनी इस उक्ति में बिल्हण महाकवि भवभूति की 'उत्तररामचरित' में निबद्ध नान्दी का अनायास स्मरण करा देते हैं। कवि अपने काव्य की लोकप्रियता के प्रति आश्वस्त है। इस अंश में उसका भाग्य भवभूति से भिन्न है। अपने जीवनकाल में ही उसने देखा है कि ग्राम-ग्राम, जनपद-जनपद, वन-वन, उपवन-उपवन और हर राजधानी में आबालवृद्धवनिता उसके काव्य का पाठ आनन्दविभोर होकर करते हैं—

"ग्रामो नासौ न स जनपदः सास्ति नो राजधानी
तन्नारण्यं न तदुपवनं सा न सारस्वती भूः।
विद्वान् मूर्खः परिणतवया बालकः स्त्री पुमान् वा
यत्रोन्मीलत्पुलकमखिला नास्य काव्यं पठन्ति ॥"

बिल्हण ने बाणभट्ट की भाँति लम्बी यात्राएँ की थीं। काश्मीर में अपने यश का विस्तार कर बिल्हण ने देशदर्शन के लिये प्रस्थान किया। यमुना के किनारे-किनारे कवि मथुरा आये। यहाँ विद्वानों से शास्त्रार्थ किये और कुछ समय तक वृन्दावन में निवास किया। तदनन्तर कान्यकुब्ज, प्रयाग और काशी आये। प्रयाग में कवि ने अनेक बार अपने समुपार्जित धनराशि का उदारतापूर्वक दान किया था—

"तस्मिन् वारान् कति न कृतिना तीर्थनाथे प्रयागे,
दत्ता विश्वाद्भुतगुणगणोपार्जिता येन लक्ष्मीः ॥"

इन यात्राओं में सम्भवतः कवि को ऐसे राजा भी मिले, जिन्होंने गुणग्राहकता का परिचय नहीं दिया अथवा जिनके चरित्र ने कवि को कथमपि प्रभावित नहीं किया। इसीलिये कवि कहता है कि काशी में दुःशील राजाओं का मुख देखने से होने वाले पाप का प्रक्षालन उसने गङ्गा में कर लिया।

डाहल (बुन्देलखण्ड) देश के नरेश कर्ण ने कवि का बहुत सम्मान किया। डाहलनरेश का प्रभुत्व काशी पर भी था और सम्भवतः यहीं कवि ने गङ्गाधर नामक विद्वान् को पराजित किया। अपनी विजय को विशेष महत्त्व देते हुए कवि पहली बार पराजित विद्वान् का नामतः उल्लेख करता है—

"नीत्वा गङ्गाधरमधरतां डाहलाधीशधाम्नि,
क्रीडाक्रान्तप्रतिभटकवेः पूर्वदिक्कोटरेषु ॥"

इन्हीं कर्णनरेश की राजधानी में ही कवि ने सम्भवतः भगवान् राम के गुणानुवाद में काव्यरचना की।[1] कवि कहता है—

"तं पौलस्त्यं विदलितवतः सूक्तिनिष्यन्दशीताम्।
सीतामर्तुर्व्यरचयदसौ राजधानीमयोध्याम् ॥"

अयोध्या होता हुआ कवि गुर्जर देश गया, किन्तु यहाँ उसका उचित सम्मान नहीं हुआ और कवि इस बात की शिकायत करता है। कच्छ न बाँधने और जुगुप्सित शब्द बोलने वालों के रूप में गुर्जरदेशीयों का वर्णन करने में कवि का आक्रोश दीखता है। गुर्जरदेश के मार्ग

---

1. A History of Classical Sanskrit, Literature—M. Krishnamachariar, p. 165, Varanasi—1970

में ही वह धारा भी गया, किन्तु तब (१०५५ ई०) तक भोज की मृत्यु हो चुकी थी। भगवान् सोमनाथ की समर्चना करके वह रामेश्वर के दर्शन के लिये चल पड़ा।

दक्षिण देश की यात्रा से लौटते समय कवि कल्याणी के चालुक्यनरेश महाराज विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल (१०७६-११२६ ई०) की राजसभा में आया। यहाँ सामान्य कवियों का प्रवेश कठिन था, किन्तु यशस्वी कवि को यहाँ अत्यन्त सम्मान मिला। कवि स्वयं कहते हैं—

"नीलच्छत्रोन्मदगजघटापात्रमुत्रस्तचोला-
च्चालुक्येन्द्रादलभत कृती योऽत्र विद्यापतित्वम्।
अस्मिन्नासीत्तदनु निबिडाश्लेषहेवाकलीला-
वेल्लद्बाहुक्वणितवलया सन्ततं राजलक्ष्मीः॥"

चोल नरेश को त्रस्त करने वाले चालुक्येन्द्र से कवि ने नीलवर्ण छत्र, अनेक गज, तथा 'विद्यापति' की उपाधि प्राप्त की। तदनन्तर गाढाश्लेष से स्फुरित बाहुओं में क्वणन करते वलयों वाली राजलक्ष्मी निरन्तर कवि के पास रही। कवि ने जब कर्णाट देश में गज पर यात्रायें कीं, तो इसका 'आतप-वारण' छत्र राजाओं के आगे दिखा। कवि के समय तक काश्मीर नरेश अनन्त की मृत्यु हो चुकी थी और कवि कलश को जानते थे। कल्हण कहते हैं—

"काश्मीरेभ्यो विनिर्यातं काले कलशभूपतेः।
विद्यापतिं यं कर्णाटश्चक्रे पर्माडिभूपतिः॥
प्रसर्पतः करटिभिः कर्णाटकटकान्तरे।
राज्ञोऽग्रे ददृशे तुङ्गं यस्यैवातपवारणम्॥
त्यागिनं हर्षदेवं स श्रुत्वा सुकविबान्धवम्।
बिल्हणो वञ्चनं मेने विभूतिं तावतीमपि॥"[1]

कवि ने हर्ष (१०८४–११०१ ई०) की कवियों के प्रति आदर दृष्टि की बात सुन कर उतनी विभूति भी वंचना ही मानी।

विक्रमाङ्कदेवचरित के अन्तिम श्लोकों को देख कर यह अनुमान किया जाता है कि बाद में विक्रमादित्य का वह अनुग्रह नहीं रहा और कवि का सर्वस्व छीन लिया गया—

"सर्वस्वं गृहवर्ति कुन्तलपतिर्गृह्णातु तन्मे पुन-
र्भाण्डागारमखण्डमेव हृदये जागर्ति सारस्वतम्।
रे क्षुद्रास्त्यजत प्रमोदमचिराद्देष्यन्ति भन्मन्दिरं
हेलान्दोलितकर्णतालकरटिस्कन्धाधिरूढाः श्रियः॥"

---

१. राजतरङ्गिणी—७.९३५–३७. देखिये Stein—Vol. I. p. 340–341, Varanasi—1961.

कदाचित् इसीलिये 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में चोलयुद्ध तक ही वर्णन है और कवि नर्मदा तट (१०८८ ई०) के अभियान का वर्णन नहीं करता।[१]

कल्याणी के चालुक्य—दक्षिणापथ के इतिहास में चालुक्यों का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है। कल्याणी के चालुक्यों की कीर्तिपताका सुदूर दक्षिण से लेकर नर्मदा के पार तक फहराती रही। चालुक्यों के नाम से चार राजवंशों का उल्लेख भारतीय इतिहास में है—(१) वातापी के चालुक्य (२) वेंगी के चालुक्य (३) कल्याणी के चालुक्य और (४) गुर्जरदेश के चालुक्य।

'विक्रमाङ्कदेवचरित' में कल्याणी के चालुक्य वंश में जन्म लेने वाले विक्रमादित्य षष्ठ को नायक बनाया गया है। कर्नाटक प्रान्त का प्राचीन नगर कल्याणी इनकी राजधानी था। इसी वंश के तैलप (९७३–९९७ ई०) नामक नरेश ने राष्ट्रकूट नरेशों को पराजित किया। उसके अनन्तर सत्याश्रय (९९७–१००८ ई०) ने शासन किया। सत्याश्रय के अनन्तर विक्रमादित्य पंचम (१००८–१०१४) तथा अय्यण (१०१५ ई०) के बाद जयसिंह द्वितीय (१०१५–४३ ई०) ने राज्य किया। इसके बाद जयसिंह के पुत्र सोमेश्वर प्रथम त्रैलोक्यमल्ल (१०४३–१०६८ ई०) ने शासन किया। त्रैलोक्यमल्ल आहवमल्ल के नाम से भी प्रसिद्ध था। इसने अनेकशः चोल नरेशों पर विजय प्राप्त की। मालवा पर आक्रमण कर भोजराज को उनकी राजधानी धारा से भगाया। डाहल (बुन्देलखण्ड) के नरेश कर्ण को जीत कर तथा चोलनरेशों की राजधानी कांची को अपने अधीन कर इसने कल्याणी में अपनी राजधानी बनायी। आहवमल्ल के तीन पुत्र थे—सोमेश्वर (ज्येष्ठ), विक्रमादित्य (मध्यम) तथा जयसिंह (कनिष्ठ)। विक्रमादित्य ने अपने पिता के सामने ही अनेक युद्ध किये और विजय प्राप्त की। उसने चोलनरेश को हराकर राजधानी कांची जीत ली। मालवाधिपति के शरण में आने पर उसके शत्रुओं को पराजित कर उसका राज्य फिर से लौटा दिया। कामरूप और गौडदेशों पर विजय प्राप्त की। केरल के नरेश को युद्ध में मारा। सिंहलनरेश ने अधीनता स्वीकार की। चोलदेश के गाङ्गकुण्ड और चक्रकोट नगरों को जीत कर लौटते समय कृष्णा के तट पर अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला। अपने रोग को अप्रतीकार्य समझ कर आहवमल्ल ने तुङ्गभद्रा में जलसमाधि ले ली। आहवमल्ल की मृत्यु के बाद युवराज और ज्येष्ठ पुत्र सोमेश्वर द्वितीय (१०६८–१०७६ ई०) ने ही शासन संभाला। विक्रमादित्य ने विजयों में प्राप्त सम्पत्ति उसे अर्पित की। किन्तु बाद में उसे अनिच्छापूर्वक कल्याणी छोड़ कर अपने अनुज जयसिंह को साथ लेकर निकलना पड़ा और सोमेश्वर द्वारा आरोपित युद्ध भी लड़ने पड़े। विक्रमादित्य ने तुङ्गभद्रा पर अपना शिविर बनाया और विजय आरम्भ की। कोंकणनरेश जयकेशी तथा आलुपराज ने उसकी अधीनता स्वीकार की। चोलनरेश ने उससे अपनी कन्या का विवाह किया। कुछ ही दिन बाद चोलनरेश की मृत्यु की मृत्यु हो जाने पर उसने वहाँ के विप्लव का दमन किया और अपने साले को राजा बनाया, किन्तु थोड़े दिनों बाद फिर विप्लव हुआ और नये शासक की भी मृत्यु हो गयी।

१. History of Classical Sanskrit Literature–M. Krishnamachariar, p. 165, Varanasi, 1960, and JRAS, IV, 15.

विक्रमादित्य को विवश होकर अपने भाइयों से भी युद्ध करना पड़ा। वेंगी के राजा राजिग ने कांची पर अधिकार कर लिया। उसे दबाने के लिये विक्रमादित्य ने जब प्रस्थान किया, तो उसने सन्धि कर ली। किन्तु इस सन्धि से कुपित होकर सोमेश्वर ने आक्रमण कर दिया और अन्ततः युद्ध में सोमेश्वर बन्दी हुआ, राजिग भाग गया। विक्रमादित्य ने २५ दिसम्बर १०७५ ई० से ३० जून १०७६ के बीच सोमेश्वर के राज्य पर विजय प्राप्त कर कल्याणी का शासन अपने हाथ में ले लिया। 'करहाट' राजकुमारी चन्द्रलेखा ने उसे स्वयंवर में वरण किया और पट्टरानी बनी। राज्य पर अधिकार के कुछ दिन बाद ही छोटे भाई जयसिंह ने, जो बनवास मंडल का शासक था, आक्रमण कर दिया। किन्तु युद्ध में उसकी पराजय हुई और विक्रमादित्य उसे समझा-बुझा कर कल्याणी लौट आया। चोलों के फिर सिर उठाने पर उन्हें पराजित कर कांची पर अधिकार किया।

तुङ्गभद्रा से नर्मदा तक फैले विशाल साम्राज्य के अधिपति विक्रमादित्य षष्ठ का शासन अपनी समृद्धि के लिये प्रशंसित है। जहां एक बिल्हण जैसा महान् कवि विक्रमादित्य का राजकवि था, वहीं याज्ञवल्क्य स्मृति पर 'मिताक्षरा' की रचना करने वाले विज्ञानेश्वर भी इसी नरेश के आश्रय में थे। विक्रमादित्य षष्ठ का जीवन विजय-यात्राओं और सफलताओं की प्राप्ति से भरा है।

'विक्रमाङ्कदेवचरित' में विक्रमादित्य षष्ठ, त्रिभुवनमल्ल के जीवन का इसी प्रकार का विस्तृत वर्णन किया गया है—

"The main theme of this laudatory poem is royal wars and royal marriages. The poet begins with a short account of the Chalukya race and the kings of the restored dynasty which begins with Tailapa; he dwells at some length upon the exploits of Vikramaditya's father and describes with all customary amplifications, the conquests of Vikramaditya before his accession to the throne, his dethronement of his elder brother, Someswara II, his defeat and capture of his younger and his numerous wars with the faithless cholas."[१]

कल्याणी के चालुक्यों के इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री 'विक्रमाङ्कदेवचरित' से उपलब्ध होती है और इसकी पुष्टि तत्कालीन अभिलेखों, प्रशस्तियों आदि से हो जाती है। इसलिये बिल्हण का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है।

---

१. देखिये—विक्रमाङ्कदेवचरित – Ed. Buhler, Introduction, I. A., V. 317, I. A., V. 324, I.A, X. 317, कर्ण-सुन्दरी—सं०—दुर्गाप्रसाद, बम्बई, भूमिका तथा 'सुभाषितावली—सं०—पीटर्सन, भूमिका।

जार्ज ब्युहलर द्वारा 'विक्रमाङ्क देवचरित' के प्रकाशन के अनन्तर चालुक्यों के इतिहास पर अनेक मूर्धन्य विद्वानों ने काम किया। रामकृष्णगोपाल भण्डारकर ने अपने ग्रन्थ 'Ealry History of Daccan' में, जे. एफ. फ्लीट ने अपने ग्रन्थ 'Dynasties of the Kanarese Districts' में तथा महामहोपाध्याय गौरीचन्द हीराचन्द ओझा ने 'सोलङ्कियों का प्राचीन इतिहास' में चालुक्य इतिहास पर प्रकाश डाला। हिन्दी के प्रसिद्ध समालोचक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'विक्रमाङ्कदेवचरितचर्चा' की रचना १९०७ में की। इसके अनन्तर अनेक विद्वानों ने चालुक्य इतिहास पर कार्य किया है।

बिल्हण की इतिहास-दृष्टि:—बिल्हण मुख्यतः कवि हैं। एक इतिहास प्रसिद्ध नायक पर महाकाव्य की रचना उन्होंने की है। मुख्यतः इतिहास लेखन उनका विषय नहीं था। इसलिये आधुनिक इतिहासलेखक की सजग, सावधान, यायातथ्य के अनुरोध से घटनाओं को प्रस्तुत करने मात्र की दृष्टि उनकी दृष्टि नहीं है। कल्हण की भाँति उनकी दृष्टि ऐतिहासिक तथ्य के सटीक उपस्थापन की नहीं है। इसी तथ्य को स्टोन ने कहा है—

"The narrative of Bana and Bilhana, too, treats of hirtorical facts yet their heroes are painted all white and their enemies all black."[1]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी बिल्हण की आलङ्कारिक वर्णनों से भरी काव्यशैली की कड़ी आलोचना की है। वे अपेक्षा करते हैं कि चरितवर्णन में लेखक को अनपेक्षित बात नहीं कहनी चाहिये और प्रामाणिक तथ्य का उपस्थापन करना चाहिये। पौराणिक, अलौकिक प्रसंगों के निबन्धन और अतिशयोक्तिपूर्ण आलंकारिक वर्णनों के सन्निवेश से उनकी दृष्टि में काव्य का ऐतिहासिक मूल्य कम हो गया है।

आधुनिक इतिहास दृष्टि से यह बात सही हो सकती है, किन्तु बिल्हण इतिहास लेखक नहीं, मूलतः कवि हैं। सर्जनात्मक रचना के परिवेश में उन्होंने जिस प्रकार ऐतिहासिक तथ्यों को रखा है, उससे ही उनकी रचना का महत्त्व बढ़ जाता है। तत्कालीन सांस्कृतिक और सामाजिक स्थिति का परिज्ञान करने के लिये भी प्रचुर सामग्री 'विक्रमाङ्कदेवचरित' से प्राप्त होती है। अतः बिल्हण का महत्त्व कवि द्वारा ऐतिहासिक सामग्री के प्रामाणिक उपस्थापन में है।

बिल्हण का स्थितिकाल—राजतरङ्गिणी के उल्लेख से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि बिल्हण कलश के समय में काश्मीर से अपनी यात्रा पर निकल पड़े थे—

"काश्मीरेभ्यो विनिर्यातं काले कलशभूपतेः।"[2]

किन्तु प्रसिद्ध विद्वान् ब्युहलर ने अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि यह समय कलश का अपने पिता की मृत्यु के बाद राज्य पर शासन करने का काल नहीं है, अपितु

१. Rajatarangini–Stein, Introduction, p. 32-33.

२. राजतरङ्गिणी–७.९३५.

'कलश भूपति के काल' से तात्पर्य उस समय से है, जब कलश पिता के सामने ही नाममात्र का शासन था। यह काल १०६३ ई० से १०८१ ई० के मध्य का है। १ इससे इस तथ्य का भी संवाद हो जाता है कि जब बिल्हण धारा पहुँचे, तो भोज का निधन (१०५५ ई० में) हो चुका था—

"भोजः क्ष्माभृत् स खलु न खलैस्तस्य साम्यं नरेन्द्रैः-
स्तत् प्रत्यक्षं किमिति भवता नागतं हा हतास्मि।
यस्य द्वारोड्डमरशिखरक्रोडपारावतानां
नादव्याजादिति सकरुणं व्याजहारेव धारा॥"

कवि विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल (१०७६–११२६ ई०) की राजसभा में रहा, किन्तु १०८८ ई० के बाद के अभियान का वर्णन 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में नहीं करता। अतः लगता है, तब तक वह चालुक्यनरेश के यहाँ से जा चुका था।

'राजतरङ्गिणी' के उल्लेख से ही यह भी पता चलता है कि 'सुकविबान्धव त्यागी' हर्ष (१०८४–११०१ ई०) के यश को सुनकर उसने उतने वैभव को भी वंचना ही माना।[२] अतः प्रतीत होता है कि चालुक्यनरेश विक्रमादित्य षष्ठ के यहाँ रहते ही उसने हर्ष का यश भी सुन लिया था।

इन सभी उल्लेखों के आधार पर बहुत सुरक्षित रूप में कवि का समय ग्यारहवीं शती का उत्तरार्ध निश्चित हो जाता है।

कृतित्वः—बिल्हण की प्रसिद्ध रचना 'विक्रमाङ्कदेवचरित' १८ सर्गों का महाकाव्य है। इस महाकाव्यका प्रकाशन प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जार्ज ब्युहलर ने बाम्बे संस्कृत सीरीज में १८७५ में किया। जार्ज ब्युहलर ने राजस्थान प्रदेश में प्राचीन पाण्डुलिपियों की खोज में हर्मान याकोबी के साथ भ्रमण किया। जैसलमेर स्थित बृहद् ज्ञानकोष भाण्डागार में उन्हें 'विक्रमाङ्कदेवचरित' की पाण्डुलिपि १८७४ ई० में प्राप्त हुई। इसी पाण्डुलिपि की सात दिन में प्रतिलिपि तैयार कर अपनी लम्बी भूमिका के साथ में प्रकाशन किया। इस संस्करण में एकमात्र पाण्डुलिपि का आधार रहने के कारण अशुद्धियाँ रह गयी थीं।

इसका द्वितीय संस्करण काशी से ज्ञानमंडल द्वारा १९२७ ई० में प्रकाशित किया गया। सम्पादक के रूप में महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा का नाम है, किन्तु सम्भवतः उन्होंने इसे देखा नहीं, क्योंकि इस संस्करण में पाठ की और भी अशुद्धियाँ रह गयीं।

तृतीय संस्करण काशी से सरस्वतीभवन पुस्तकालय से श्रीमुरारीलाल नागर के सम्पादन से प्रकाशित हुआ। यह संस्करण शुद्धता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

---

१. Rajatarangini—Stein, Notes p. 341, Vol I. P. Varanasi, 1961 Ed.

२. राजतरङ्गिणी—७।९३७

इस महाकाव्य का चौथा संस्करण काशी से ही 'हिन्दू विश्वविद्यालयीय-संस्कृत साहित्यानुसन्धान समिति' द्वारा प्रकाशित किया गया। इसका प्रथम भाग १९५८ ई० में प्रकाशित हो गया। इस संस्करण का सम्पादन श्रीविश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज ने किया। साथ ही उनके द्वारा रचित संस्कृत टीका और हिन्दी में भावार्थ भी है।

प्रथम सर्ग मात्र की संस्कृत टीका और अनुवाद तथा भूमिका के साथ डा० गजानन शास्त्री मुसलगांवकर का संस्करण भी काशी से ही १९६९ में प्रकाशित हुआ।

इस महाकाव्य का जर्मन विद्वान् ए. हाक (A. Haak) ने जर्मन में अनुवाद किया जो १८९७ ई० में Ratibor से प्रकाशित हुआ था।[1]

इस महाकाव्य पर एक प्राचीन टिप्पणी 'चरितचन्द्रिका' श्रीमुरारीलाल नागर के संस्करण में परिशिष्ट रूप में प्रकाशित है।

'विक्रमाङ्कदेवचरित' कल्याण में चालुक्यवंश का वर्णन प्रस्तुत किया गया है और विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल इसके नायक हैं। महाकाव्य में वर्णित कथा का संक्षिप्त विवरण 'कल्याणी के चालुक्य' शीर्षक से प्रस्तुत किया जा चुका है। अष्टादश सर्ग में कवि ने अपना जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया है, इससे तत्कालीन समाज और संस्कृति के विषय में प्रचुर सूचनायें प्राप्त होती हैं।

बिल्हण की दूसरी रचना 'कर्णसुन्दरी' नामक चार अंकों में लिखी नाटिका है। यह नाटिका 'रत्नावली' की शैली में लिखी गयी है। इसकी रचना भी चालुक्य राजसभा में ही की गयी होगी। इसमें चालुक्य नरेश भीमदेव के पुत्र राजकुमार कर्णदेव का विद्याधर राजकुमारी के साथ प्रणय और अन्ततः महारानी की अनुमति से विवाह का वर्णन है। काव्यमाला संस्कृत सीरीज़ की सातवीं संख्या में बम्बई से इसका प्रकाशन हुआ है।

बिल्हण के नाम से एक अन्य रचना 'चौरपञ्चाशिका' अथवा 'चौरीसुरतपञ्चाशिका' नामक भी कही जाती है। इसका बर्लिन, मद्रास, बम्बई और कलकत्ता से समय-समय पर संस्करण निकला है। १८८६ में जर्मन विद्वान् सोल्फ (Solfs) का जर्मन भाषा में भूमिका के साथ संस्करण प्रकाशित हुआ था। 'चौरपञ्चाशिका' के श्लोकों में प्रणयी अपनी प्रियतमा का स्मरण करता हुआ वर्णन करता है, किन्तु कुछ पाण्डुलिपियों में इसकी भूमिका का अंश भी पृथक मिलता है, जिसमें इस काव्य की रूमानी पृष्ठभूमि का वर्णन है। इसके अनुसार बिल्हण गुजरात के राजा वैरिसिंह की पुत्री चन्द्रलेखा अथवा शशिकला को पढ़ाते थे। शशिकला अपने अध्यापक से प्रेम करने लगी और यह प्रणय चलता रहा। जब रहस्य खुला, तो बिल्हण को मृत्युदण्ड मिला और जब कवि वधस्थान पर ले जाया गया तो उसने अपनी प्रेयसी को याद करते 'चौरपञ्चाशिका' के श्लोक कहे। इन श्लोकों से द्रवित वधिकों ने राजा को इसकी सूचना दी। राजा ने द्रवित होकर कवि को क्षमा कर दिया और राजकुमारी का विधिवत् विवाह कर दिया।

---

१. History of Indian Literature—Winternitz, Vol. III, Part I, foonote p. 93, Varanasi, 1963.

'चौरपञ्चाशिका' के बंगाल संस्करण में भी इसी तरह की कथा कही जाती है और इसे सुन्दर कवि की रचना बताया जाता है। यह आशंका की जाती है कि चौर और बिल्हण भिन्न कवि हैं। यह आशंका निश्चय में तब बदल जाती है, जब हम देखते हैं कि भोज ने (जो बिल्हण के पूर्ववर्ती थे) 'शृङ्गार प्रकाश' में 'चौरपञ्चाशिका' के दो श्लोक उद्धृत किये हैं और तेलुगु कवि जक्कन अपनी रचना 'विक्रमार्कचरित' में बिल्हण और चौर की पृथक्-पृथक् प्रशंसा करता है।[1]

'चौरपञ्चाशिका' की भूमिका का काव्य-भाग निश्चय ही पश्चाद्वर्ती है। अह्निलवाड के नरेश वैरिसिंह की मृत्यु ९२० ई० में बिल्हण से बहुत पूर्व हो चुकी थी।

कई पाण्डुलिपियों में राजा का नाम मदनाभिराम कहा गया है और उसे पाञ्चाल देश की राजधानी लक्ष्मीमन्दिर का अधिपति बताया गया है। नायिका का नाम यामिनीपूर्णतिलका बताया गया है।

इन तथ्यों से यही प्रतीत होता है कि 'चौरपञ्चाशिका' बिल्हण की रचना नहीं है और न बिल्हण ने गुजरात या पाञ्चाल के किसी राजा से अपना सम्बन्ध बताया है।

बिल्हण के नाम से शिव की स्तुति में 'शिवस्तुति' नामक रचना का 'कैटलॉग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट इन ओरिएन्टल लाइब्रेरी मैसूर' में उल्लेख मिलता है। 'ट्रिएनियल कैटलॉग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट इन ओरिएन्टल लाइब्रेरी, मद्रास' के द्वितीय भाग में भी 'बिल्हणस्तव' का उल्लेख है। ये दोनों सम्भवतः एक ही रचना है।[2] बिल्हण की इन रचनाओं के अतिरिक्त उनके नाम से श्लोकों का उद्धरण अनेक सुभाषित-संग्रहों में प्राप्त होता है। 'सूक्तिमुक्तावली' तथा 'सुभाषितावली' में बिल्हण के नाम से बहुत से श्लोक उद्धृत हैं।

काव्यालोचन—बिल्हण के नाम से उपलब्ध, उल्लिखित और कही जाने वाली उपर्युक्त सभी रचनाओं में 'विक्रमाङ्कदेवचरित' का महत्त्व सबसे बढ़कर है। वस्तुतः बिल्हण का कविव्यक्तित्व 'विक्रमाङ्कदेवचरित' से पूरी तरह व्यक्त होता हैं। कवि-हृदय में काव्य की जो अवधारणा होती है, वह जिस विशिष्ट सर्जन-प्रक्रिया से गुजरता है और कवि द्वारा सृष्ट काव्य का जो कलात्मक मूल्य होता है, उस सबकी साक्षी कवि की रचना होती है। इस दृष्टि से 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में बिल्हण ने पर्याप्त संकेत किये हैं। काव्य के सम्बन्ध में बिल्हण की दृष्टि पूर्वतन कवियों के प्रति उनका मनोभाव और काव्यसर्जन के क्षेत्र में अपनी विशिष्टता के बारे में उन्होंने अपनी धारणायें व्यक्त की हैं।

साहित्यविद्या के प्राचीन आचार्यों ने काव्यरचना की सरणियों के पार्थक्य को स्पष्ट रूप में सूचित करने के लिये तीन रीतियां—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली का आकलन किया है। बिल्हण ने अपने मार्ग को स्पष्टरूप में पहचान लिया था। उन्होंने कहा—

---

१. देखिये—History of Classical Sanskrit Literature—M. Krishnamachariar, p. 167, Varanasi–1970.

२. देखिये—History of Classical Sanskrit Literature—M. Krishnamachariar, I. p. footnote, p. 166.

"अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः ।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम् ॥"

कवि वैदर्भी के स्वीकार के लिये हेतु उपन्यस्त करता है—(१) श्रवणामृत की अनभ्रवृष्टि (२) सरस्वती के विलास का उद्गम (३) पदों के सौभाग्यलाभ में प्रतिभूत्व की भूमिका वैदर्भी को विशिष्ट बनाती है। काव्य की वैदर्भी शैली काव्यानन्द की सतत सृष्टि जिस अनायास, अप्रयास और सहज रीति से करती है, उसे 'अनभ्रवृष्टि' मुहावरे से कहा गया है। काव्यभाषा और कविकल्पना की वह सहजता और स्वतःस्फूर्त रमणीयता वैदर्भी से ही प्राप्त होती है। वैदर्भी शैली की पदयोजना में अर्थाभिव्यक्ति की इसी प्रक्रिया को 'सौभाग्यलाभप्रतिभू' के मुहावरे से कहा है। पदों के द्वारा अर्थ का अनायास समर्पण और कवि द्वारा काव्यघटनानुकूल सर्वथा समुचित पदार्थ का उपस्थापन ही काव्यसर्जन प्रक्रिया में 'सौभाग्यलाभ' है। पदों का 'सौभाग्य' काव्यार्थ के प्रकाशन में सर्वथा समर्थ और समुचित होने में है। वैदर्भी पद को इसी 'सौभाग्य' की प्राप्ति कराती है। 'ललितोचितसन्निवेशचारु' काव्य के क्षेत्र में वाग्रूपा सरस्वती का सर्वातिशायी विलास व्यक्त होता है। आचार्य आनन्दवर्धने इसी तथ्य को इस प्रकार प्रकाशित किया—

"सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥"[1]

काव्यसर्जन प्रक्रिया और काव्यास्वादवेला में वैदर्भी की इस भूमिका को आचार्यों ने भली भाँति प्रतिपादित किया है। वैदर्भी का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया—

"माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः, रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥"

रस पदसङ्घटना में ही भासित होता है, इस बात को आचार्य आनन्दवर्धन ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा—

"अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः सङ्घटनायामेव भासते ध्वनिरित्युक्तं तत्र सङ्घटनास्वरूपमेव तावन्निरूप्यते—

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता ॥

कैश्चित्—

तां केवलमनूद्येदमुच्यते—
गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्व्यनक्ति सा ।
रसान्—"[2]

१. ध्वन्यालोक—१।६   २. ध्वन्यालोक—३।५

यह संघटना गुणों का आश्रय लेकर स्थित होती है और इस प्रकार रस की अभिव्यक्ति करती है। इस रहस्य को आत्मसात् करने के कारण ही बिल्हण जहाँ एक ओर वैदर्भी के प्रति पक्षपात प्रदर्शित करते हैं वहाँ दूसरी ओर 'रसध्वनि' के मार्ग को अपना मार्ग घोषित करते हैं। वे अपने को 'ध्वनिकवि' ही मानते हैं। इसके साथ ही उनके ऊपर 'वक्रोक्ति' सम्प्रदाय का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वे वक्रोक्ति और 'वैचित्र्य' शब्दों का सावधान प्रयोग करते हैं—

"रसध्वनेरध्वनि ये चरन्ति,
सङ्क्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः ।
तेऽस्मत्प्रबन्धानवधारयन्तु,
कुर्वन्तु शेषाः शुकवाक्यपाठम् ॥"

तथा

"सहस्रशः सन्तु विशारदानां वैदर्भलीलानिधयः प्रबन्धाः ।
तथापि वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः श्रद्धां विधास्यन्ति सचेतसोऽत्र ॥"

'वक्रोक्ति' और 'वैचित्र्य' का यह उल्लेख ध्वनिमार्ग का अनुसरण करते हुए भी वक्रोक्ति और अलङ्कार के प्रति उनकी दृष्टि को प्रकट करता है।

काव्यनिर्माण के क्षेत्र में नूतन प्रयोग और नयी राह की खोज की ओर भी बिल्हण की रुचि है। वे 'प्रौढिप्रकर्ष' के द्वारा पुरानी परिपाटी का अतिक्रमण करना श्लाघ्य मानते हैं। 'प्रौढि' से उनका तात्पर्य प्राचीन अलंकारिकों के 'प्रौढि' नामक गुण से नहीं है, अपितु ध्वनि एवं अलङ्कारादि के सन्निवेश से है। उन्होंने कहा—

"प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीति--व्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः पदानाम् ।
अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि, वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि ॥"

बिल्हण अपनी इन सारी भङ्गिमाओं से काव्यसर्जन की अपनी नूतन दृष्टि पूर्वतन वस्तुतः श्रेष्ठ कवियों के प्रति अपने आदर के साथ व्यक्त कर देते हैं। जहाँ एक ओर काव्य सिद्धान्त में वक्रोक्ति, अलङ्कार आदि के समुचित स्थान को स्वीकार करते हुए 'ध्वनि सम्प्रदाय' का अनुगमन उन्हें स्वीकार है, वहीं काव्यसर्जना में 'रसध्वनि' के कवि होने के साथ ही साथ वे 'चित्रोक्ति' 'वैचित्र्य' और 'वक्रोक्ति' को भी आदर देते हैं। व्यास, वाल्मीकि और कालिदास जैसे महान् कवियों तथा भारवि और माघ जैसे कवियों की दो विभिन्न प्रकार की रचना परम्परा के सामने उपस्थित रहने पर बिल्हण प्रयास कालिदास की परम्परा के अनुगमन का ही करते हैं। अपने युग की प्रवृत्ति से इस प्रकार वे अपने को पृथक् करते हैं। ऐसा काव्य-सिद्धान्तों की उनकी ठीक-ठीक समझ के कारण ही सम्भव हो सका।

काव्य सर्जन के साथ साथ काव्यास्वाद को ग्रहण करने की प्रक्रिया की ओर भी उन्होंने संकेत किया। काव्यास्वाद के लिए विशिष्ट व्युत्पत्ति का अर्जन आवश्यक है। यह विशिष्ट व्युत्पत्ति श्रोता को जड से पृथक् कर 'कोविद' के पद पर ले जाती है—

"व्युत्पत्तिरावर्जितकोविदापि न रञ्जनाय क्रमते जडानाम्।
न मौक्तिकच्छिद्रकरी शलाका प्रगल्भते कर्मणि टङ्किकायाः॥"

काव्य का मर्म समझने के लिये निरन्तर सामान्य उक्ति से सत्कविता को पृथक् करने की दृष्टि अर्जित करनी पड़ेगी, जो जड़ों में ही प्रतिमा देख पाते हैं, वे श्रेष्ठ कवियों को उक्ति समझ भी कैसे सकते हैं—

"जडेषु जातप्रतिभाभिमानाः, खलाः कवीन्द्रोक्तिषु के वराकाः।
प्राप्ताग्निनिर्वापणगर्वमम्बु, रत्नाङ्कुरज्योतिषि किं करोति॥"

इसीलिये विल्हण के विचार में जो सचमुच कवि हैं, उनकी रचना के मर्म को समझना चाहिये। सूक्ति के मर्म की परीक्षा विचार की शाणोपलपट्टिका पर करनी चाहिये—

"कथासु ये लब्धरसाः कवीनां, ते नानुरज्यन्ति कथान्तरेषु।
न ग्रन्थिपर्णप्रणयाश्चरन्ति, कस्तूरिकागन्धमृगास्तृणेषु॥
उल्लेखलीलाघटनापटूनां, सचेतसां वैकटिकोपमानां।
विचारशाणोपलपट्टिकासु, मत्सूक्तिरत्नान्यतिथीभवन्तु॥"

दूसरे शब्दों में व्युपत्ति, काव्यालोचन में निरन्तर अवगाहन तथा असत्काव्य के विवेक की दृष्टि अर्जित कर ही सच्चा सहृदय काव्यास्वादक बना जा सकता है।

काव्य के स्वरूप और काव्यालोचन के सिद्धान्तों के प्रति सर्वथा जागरूक कवि की रचना में उसकी उत्कृष्टता व्यक्त हुई है। विल्हण ने अपनी विमल दृष्टि से काव्य में वैदर्भी रीति के महत्त्व को पहचाना था। इसी के अनुसार 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में उन्होंने वैदर्भी रीति का ही आश्रयण किया।

'विक्रमाङ्कदेवचरित' में इस वैदर्भी रीति का आश्रय कविकुलगुरु कालिदास का बहुशः स्मरण कराता है। वैदर्भी रीति के 'प्रसाद' गुण, रचना का लालित्य, भाषा का प्रवाह, कल्पना की स्पष्टता और रस की अभिव्यक्ति जुड़ी हुई हैं। विल्हण की रचना इन वैशिष्ट्यों से सर्वथा युक्त है। श्रेष्ठ कविता के इन सभी वैशिष्ट्यों के साथ हृद्य अलङ्कारयोजना मन को हठात् आकृष्ट कर लेती है—

"मृणालसूत्रं निजवल्लभायाः, समुत्सुकश्चाटुषु चक्रवाकः।
अन्योन्यविश्लेषणयन्त्रसूत्र-भ्रान्त्येव चञ्चुस्थितमाचकर्ष॥"

प्रभात वेला में परस्पर केलि करते चक्रवाक मिथुन के वर्णन में यह रमणीय कल्पना विल्हण के काव्य-सामर्थ्य को प्रकट करती है। इसी प्रकार प्रातःकाल के अरुण सूर्य की आरक्तता में सिद्धांगनाओं द्वारा दिये गये कुंकुम अर्घ्य का धारण करना कारण बताया गया—

"आरक्तमर्घ्यार्पणतत्पराणां, सिद्धाङ्गनानामिव कुङ्कुमेन।
बिम्बं दधे बिम्बफलप्रतिष्ठां, राजीविनीजीवितवल्लभस्य॥"

पदशय्या के लालित्य के साथ-साथ सुकुमार कल्पना, रम्य वर्णन और रसपर्यवसायी अलंकार संयोजन विल्हण को उत्कृष्ट कवि की श्रेणी में लाकर खड़ा करता है।

विल्हण ने जहाँ एक ओर रसध्वनि के मार्ग में विचरण को आदर्श माना, वहीं दूसरी ओर वक्रोक्ति के प्रयोग को भी महत्त्व प्रदान किया। आनन्दवर्धनाचार्य और कुन्तक के द्वारा प्रवर्तित दो विभिन्न प्रस्थानों के काव्यसिद्धान्तों को एक साथ अपने काव्य में उतारने की चेष्टा अत्यन्त प्रशंसनीय है। काश्मीर में जन्मे कवि के लिये काश्मीर में विकसित काव्यविचारों से गम्भीरता से परिचित होना कुछ कठिन नहीं है। उक्ति का कुन्तक प्रतिपादित वैचित्र्य विल्हण के काव्य में भलीभाँति प्रकट होता है। 'विक्रमाङ्कदेवचरित' के प्रथम सर्ग में उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, समासोक्ति, अपह्नुति और भ्रान्तिमान् आदि अलंकारों में कवि का वह सामर्थ्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है। आहवमल्लदेव के विजय अभियान में समुद्र का वर्णन इसे अच्छी तरह उपस्थित करता है—

"एकत्र वासादवसानभञ्ज-स्ताम्बूलक्ष्म्या इव संसरन्ती।
वक्त्रेषु यद्वैरिविलासिनीनां, हासप्रभातानवमाससाद॥
यं वारिधिः प्रज्वलदस्त्रजालं, वेलावनान्तेषु नितान्तभीतः।
भूपः समुत्सारणकारणेन, समागतं भार्गवमाशशङ्के॥"

अपने रत्नों का, अपहरण कर लिये जाने पर समुद्र तीर के शिलातल पर क्रोध से सिर पटकता है—

"रत्नोत्करग्राहिषु यद्भटेषु, तटत्रुटन्मौक्तिकशुक्तिभङ्ग्या।
अस्फोटयत्तीरशिलातलेषु, रोषेण मूर्धानमिवाम्बुराशिः॥"

लहराती और पछाड़ खाती सागर की लहरों का इस गहरी मानवीय संवेदना के साथ वर्णन विल्हण को अत्यन्त समर्थ कवि का पद प्रदान करता है। ऋषि वाल्मीकि ने आकाश में सफेद बादलों के टुकड़ों पर सूर्य की अरुण किरणों का पड़ना और लाल हो उठना इस तरह उपस्थित किया है कि मानों आकाश के व्रण पर पट्टियाँ बँधी हैं—'बद्धव्रणमिवाम्बरम्।' विल्हण सागर तट पर रक्तवर्ण शिलाओं को राम के बाणों से हुए पुराने व्रणों के रूप में देखते हैं—

'यं वीक्ष्य पाथोधिरधिज्यचापं शोणाश्मभिः शोणितशोणदेहैः ।
क्षोभादभीक्ष्णं रघुराजबाण-जीर्णव्रणस्फोटमिवाचचक्षे ॥"

उक्ति की ये भङ्गिमायें, भाषा की प्रसन्नता और भावों का यह उच्छल उद्रेक बिल्हण का अपना वैशिष्ट्य है।

'विक्रमाङ्कदेवचरित' इतिहास प्रथित नृपों की कथा प्रस्तुत करता है। आरम्भ के वर्णनों से ही स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्य का प्रधान रस वीर ही है। चालुक्यवंशीय राजाओं की विजययात्रायें और शौर्य की प्रस्तुति में वीररस की व्यंजना हुई है। इसके साथ ही ऐतिहासिक महाकाव्य में चरित्राङ्कन की जो एक विशिष्ट पद्धति विकसित हुई थी और जिसका स्पृहणीय रूप कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' में मिलता है, वह भी बिल्हण के महाकाव्य में प्राप्त होती है। कल्हण घटनाओं के प्रामाणिक के उपस्थापन में अद्वितीय हैं, किन्तु बिल्हण घटनाओं को काव्य-कल्पना के ललित परिवेश में रखकर भी उसके प्रामाणिकता की पर्याप्त रक्षा कर पाते हैं—यह उनकी विशेषता है। चालुक्यवंशीय नरेशों के पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व उनके काव्य से सामने उपस्थित होते जाते हैं। काव्य के सारे उत्कर्ष, कल्पनाओं और वर्णनों की सारी समृद्धि तथा काव्यशिल्प के सारे परिष्कार के साथ साथ ऐतिहासिक वृत्त की रक्षा के दुरूह कार्य का निर्वाह बिल्हण ने किया है।

काव्यगत इन श्रेष्ठताओं के और शिल्प में सावधानी के बावजूद संस्कृत के परवर्ती कवियों में दिखने वाली ह्रासोन्मुखवृत्ति (Decadence) से बिल्हण भी बच नहीं पाये हैं। परवर्ती महाकाव्यों में कथावस्तु की क्षीणता, वर्णनों का अनावश्यक विस्तार और विवरणात्मकता, उक्तिवैचित्र्य के लोभ से कल्पनाओं और वर्णनों की पुनरावृत्ति, जीवन के साक्षात् सम्पर्क से दूरी, काव्य पर शास्त्रीय ज्ञान का आरोप तथा कविता में सहजता के स्थान पर कृत्रिमता आदि तत्त्व सामान्यतः दृष्टिगोचर होते हैं। 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में भी ये कमजोरियाँ दिखाई पड़ती हैं; किन्तु बिल्हण ने सावधान होने के कारण अपने काव्य की श्रेष्ठता को पर्याप्त सीमा तक सुरक्षित रखा। इसीलिये परवर्ती कवियों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है।

जिस प्रकार काश्मीर में शास्त्र की परम्परा का विकास हुआ, उसी प्रकार कविता की एक विशिष्ट परम्परा भी विकसित हुई। महाकवि 'अमरु' के मुक्तकों और कल्हण, बिल्हण मङ्खक आदि कवियों के काव्यों की शृङ्खला इसे प्रस्तुत करती है। अपने लालित्य और सौन्दर्य से लिए यह धारा विशिष्ट है। कवि बिल्हण इस विशिष्टता को अच्छी तरह समझते हैं। तभी वह कहते हैं—

"सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टः—स्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः ॥"

केसर के अंकुरों जैसे काव्य का वह सुरभि-विलास, जीवन की गहरी अनुभूतियों की वैसी पकड़, शब्द और अर्थ का वह साम्य, अभिव्यक्ति की वैसी तीव्रता, भाषा का वैसा प्रवाह

अन्यत्र दुर्लभ है। बिल्हण काश्मीर की कविता के उस विलास के कवि हैं। समय का प्रभाव उनकी कविता को क्षीण नहीं कर पाता। वे अपनी प्रतिभा श्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में आज भी विराजते हैं। तभी उनका यह कहना आज भी सार्थक है—

"सहस्रशः सन्तु विशारदानां वैदर्भलीलानिधयः प्रबन्धाः।
तथापि वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः, श्रद्धां विधास्यन्ति सचेतसोऽत्र॥"

—कमलेशदत्त त्रिपाठी

महाकविबिल्हणविरचितं

विक्रमाङ्कदेवचरितम्

प्रथमः सर्गः

भुजप्रभादण्ड इवोर्ध्वगामी स पातु वः कंसरिपोः कृपाणः ।
यः पाञ्चजन्यप्रतिबिम्बभङ्ग्या धाराम्भसः फेनमिव व्यनक्ति ॥ १ ॥

स्वयमनवरतपरमात्मचिन्तनमनननमस्कारसम्पत्तिलब्धविघ्ननिवृत्त्यादिरूपसाक्षात्प्रयोजनोऽपि सहृदयव्याख्यातृश्रोतॄणामविघ्नेनाभीष्टव्याख्यानश्रवणलक्षणफललाभाय कश्मीरकः श्रीबिल्हणमहाकविः 'आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्' इति शास्त्रवचनमनुपालयन् काव्यादौ समुचिताशीःप्रकटनद्वारेण परमात्मनः श्रीकृष्णस्य साम्मुख्यं करोति—भुजप्रभादण्ड इत्यादिना—

यः पाञ्चजन्यस्य = हरेरायुधस्य शङ्खस्य । 'शङ्खो लक्ष्मीपतेः पाञ्चजन्य' इत्यमरः । पञ्चजने दैत्यभेदे भवः, 'पञ्चजनात्' इति वार्तिकाद् यञि रूपम् । प्रतिबिम्बस्य = प्रतिच्छायायाः । 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया' इत्यमरः । भङ्ग्या = व्याजेन । 'व्याजच्छलनिभे भङ्गिः' इति रभसः । धाराम्भसः = धारा कृपाणधारैवाम्भो जलं तस्य । फेनम् = हिण्डीरम् । 'हिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः' इत्यमरः । व्यनक्तीव = प्रकाशयतीव । अत्र कृपाणधाराप्रतिफलितपाञ्चजन्यशङ्खशुभ्रत्व—कृपाणधारादीप्तिप्रवाहसमानधर्मनिमित्तकं कृपाणधारापाञ्चजन्यप्रतिबिम्बप्रकटनं प्रवाहफेनसन्दर्शनतया सम्भावितमित्युत्प्रेक्षा । सः = एवम्भूतः । ऊर्ध्वगामी = उपरिष्टात् प्रसरणशीलः । ऊर्ध्वङ्गन्तुं शीलमस्य स इति ऊर्ध्वमिति द्वितीयान्तोपपदात् 'गम्' धातोः 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति णिनिप्रत्यये रूपम् । भुजप्रभादण्ड इव = भुजस्य बाहोः प्रभाया दीप्तेः दण्ड इव स्तम्भाकृतिः पुञ्ज इव । कृपाणमुद्योक्तुम् ऊर्ध्वप्रसारिणो भुजस्य ऊर्ध्वतरप्रसारी दण्डायमानतेजःपुञ्ज इवेति भावः । कंसरिपोः = कंसशत्रोः श्रीकृष्णस्य । कृपाणः = खड्गो नन्दक इत्यर्थः । 'खड्गो नन्दकः' इत्यमरः । वः = युष्मान् । पातु = रक्षतु । 'पा' रक्षणे धातोर्लोटि प्रथमपुरुषैकवचने रूपम् । कंसरिपोः कृपाणस्योर्ध्वगमनशीलत्वरूपसमानधर्मनिमित्तकं भुजप्रभादण्डत्वेनाहार्यसम्भावनमित्युत्प्रेक्षा । 'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' इति तल्लक्षणम् । प्रतिनायककंसालम्बनकश्रीकृष्णनिष्ठोत्साहस्य कविनिष्ठश्रीकृष्णविषयकरतिभावेऽङ्गत्वात्प्रेयोऽलङ्कारः। महाकाव्ये चास्मिन् वीररसः प्रधान इति मङ्गलश्लोकेनोत्साहवर्णनात् सूच्यते । सर्गान्तं यावदुपजातिवृत्तम् । पूर्वार्द्धे उपेन्द्रवज्राच्छन्दः, उत्तरार्द्धे चेन्द्रवज्राच्छन्दः, तयोरुपजातिः । तल्लक्षणानि— 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ', 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इति ॥ १ ॥

अन्वयः—यः पाञ्चजन्यप्रतिविम्बभङ्ग्या धाराम्भसः फेनम् व्यनक्ति इव, स ऊर्ध्वगामी भुजप्रभादण्ड इव कंसरिपोः कृपाणः वः पातु ।

अनुवाद—जो पाञ्चजन्य (शङ्ख) के प्रतिविम्ब के बहाने (कृपाण-) धारारूप जल के फेन को प्रकट सा करता है, वह ऊपर उठने वाली बाहु का कान्तिदण्ड सरीखा कंसाराति (श्रीकृष्ण) का कृपाण आपकी रक्षा करे ।

भावार्थ—भगवान् कृष्ण के खड्ग में प्रतिविम्बित पाञ्चजन्य धवल शंख ऐसा प्रतीत होता है जैसे धारा के प्रवहमान जल में फेन हो। जलधारा में जलप्रवाह होता है और खड्ग की लपलपाती धारा में चमक का प्रवाह होता है तथा फेन भी श्वेत होता है और शंख भी धवल होता है । उपमान-उपमेय में यही समान धर्म है ।

कोषः—'शङ्खो लक्ष्मीपतेः पाञ्चजन्यः' इत्यमरः। 'प्रतिमानं प्रतिविम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया' इत्यमरः। 'व्याजच्छलानिभे भङ्गिः' इति रभसः। 'हिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः' इत्यमरः। 'खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः । कौक्षेयको मण्डलाग्रः करपालः कृपाणवत्' इत्यमरः ।

अलङ्कार—भगवान् कृष्ण की उठे हुए कृपाण के धाराजल में प्रतिविम्बित पाञ्चजन्य शंख का सम्भावन धारा के जल में फेन की अभिव्यक्ति के रूप में किया जा रहा है तथा भगवान् की बाहु से ऊपर उठते प्रकाशदण्ड सरीखे कान्तिपुञ्ज से उन्नत कृपाण का संभावन होने से दोनों ही स्थलों पर उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । इस श्लोक में कवि की श्रीकृष्णविषयिणी रति का प्रतिनायक कंस को आलम्बन बनाकर श्रीकृष्णनिष्ठ उत्साह अङ्ग बनता है अतः प्रेयस् अलङ्कार है । महाकाव्य में वीररस ही अङ्गी है, यह बात श्रीकृष्णनिष्ठ उत्साह के वर्णन से सूचित होती है । इस सर्ग में उपजाति छन्द है । यह उपजाति उपेन्द्रवज्रा और इन्द्रवज्रा वृत्तों की है । पूर्वार्द्ध में उपेन्द्रवज्रा तथा उत्तरार्द्ध में इन्द्रवज्रा छन्द है ॥ १ ॥

साम्प्रतं साक्षात् मुकुन्दस्तवनपूर्वकमाशीर्वचः प्रस्तौति—

श्रीधाम्नि दुग्धोदधिपुण्डरीके यश्चञ्चरीकद्युतिमातनोति ।
नीलोत्पलश्यामलदेहकान्तिः स वोऽस्तु भूत्यै भगवान्मुकुन्दः ॥ २ ॥

श्रीधाम्नीति—यः श्रीधाम्नि=श्रियो लक्ष्म्याः धाम निवास-स्थलम्, तस्मिन् । 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' इत्यमरः । 'धाम देहे गृहे रश्मौ स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति मेदिनी । दुग्धोदधिपुण्डरीके=दुग्धोदधिरेव क्षीरसागर एव पुण्डरीकं श्वेतकमलम्, तस्मिन् । 'पुण्डरीकं सिताम्भोजम्' इत्यमरः । चञ्चरीकस्य=भ्रमरस्य । द्युतिम्=कान्तिम् । आतनोति= विस्तारयति, कृष्णवर्णत्वात् श्वेते क्षीरोदधौ स्वभ्रमरश्यामप्रभामातनोतीत्यर्थः । सः=प्रसिद्धः, प्रसिद्धपरामर्शी तच्छब्दः । नीलोत्पलश्यामलदेहकान्तिः=नीलञ्च श्यामञ्च तदुत्पलञ्च नीलोत्पलं नीलकमलमिन्दीवरमिति यावत्, 'इन्दीवरञ्च नीलेऽस्मि' न्नित्यमरः, तद्वच्छ्यामला कृष्णवर्णा देहस्य विग्रहस्य कान्तिः द्युतिर्यस्य सः । 'शोभा कान्तिर्द्युतिश्छविः' इत्यमरः । भगवान्=ऐश्वर्य-सम्पन्नः । भगः अस्त्यस्येति भगशब्दात् 'तदस्यास्त्यस्मिन्नि'ति मतुप् 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽय-वादिभ्यः' इति मकारस्य वकारः । 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चापि

षण्णाम्भग इतीरणा' इति वचनात् भगाः षट्सङ्ख्याका इत्यवधेयम् । 'भगशब्दो यशोज्ञानवीर्य-यत्नार्ककीर्तिषु' इति धरणिरपि । मुकुन्दः=हरिः । 'पुराणपुरुषो यज्ञपुरुषो नरकान्तकः । जल-शायी विश्वरूपो मुकुन्दो मुरमर्दनः' इत्यमरकोषे । वः=युष्माकम् । भूत्यै=ऐश्वर्याय । तादर्थ्ये चतुर्थी । 'विभूतिर्भूतिरैश्वर्यम्' इत्यमरः । अस्तु=भवतु । शुक्लत्वसमानधर्ममादाय दुग्धोदधेरुप-मेयस्य पुण्डरीकेणोपमानेनाभेदाद्रूपकम्, तल्लक्षणञ्च 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' इति । चञ्चरीकद्युतिमिव द्युतिमातनोतीत्यर्थावबोधनात् पदार्थनिदर्शनालङ्कारश्च, तल्लक्षणञ्चः—'निदर्शना अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः' इति । नीलोत्पलश्यामलदेहकान्तिरित्यत्रोपमा 'साधर्म्यमुपमा भेदे' इति तल्लक्षणात् । एतेषामलङ्काराणां संसृष्टिः, 'सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ।' इति तल्लक्षणात् ।

अन्वयः—यः श्रीधाम्नि दुग्धोदधिपुण्डरीके चञ्चरीकद्युतिम् आतनोति स नीलोत्पलश्यामल-देहकान्तिः भगवान् मुकुन्दः वः भूत्यै अस्तु ।

अनुवाद—जो लक्ष्मी के निवासस्थान क्षीरसागररूप श्वेतकमल पर भ्रमर की शोभा विस्तारित करते हैं, नीलकमल की भाँति श्यामल शरीरद्युति वाले वे भगवान् मुकुन्द आपकी समृद्धि के लिये हों ।

भावार्थ—प्रसिद्धि के अनुसार भगवान् विष्णु का निवास क्षीरसागर में है और लक्ष्मी कमल पर विराजती हैं । विष्णु का निवास होने के कारण लक्ष्मी का निवासस्थल भी क्षीर-सागर हुआ ही । तो भी कवि श्वेत क्षीरसागर को श्वेतकमल से अभिन्न बता कर लक्ष्मी और विष्णु की एक स्थान में ही स्थिति वर्णित करता है ।

कोषः—'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' इत्यमरः । 'धाम देहे गृहे रश्मौ स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति मेदिनी । 'पुण्डरीकं सिताम्भोजम्' इत्यमरः । 'इन्दीवरञ्च नीलेऽस्मिन्' इत्यमरः । 'शोभा कान्तिर्द्युतिश्छविः' इत्यमरः । 'भगशब्दो यशोज्ञानवीर्ययत्नार्ककीर्तिषु' इति धरणिः । 'पुराणपुरुषो यज्ञपुरुषो नरकान्तकः । जलशायी विश्वरूपो मुकुन्दो मुरमर्दनः ॥' इत्यमरः । 'विभूतिर्भूतिरैश्वर्यम्' इत्यमरः ।

अलङ्कार—'दुग्धोदधिपुण्डरीके' अंश में रूपक अलङ्कार है, क्योंकि दुग्धोदधि उपमेय और पुण्डरीक उपमान में अभेद किया गया है । 'चञ्चरीकद्युतिमातनोति' अंश में मुकुन्द चञ्चरीक (भ्रमर) की शोभा विस्तारित कर नहीं सकते, अतः 'चञ्चरीकद्युति का' 'चञ्चरीक की द्युति के समान द्युति' अर्थ गृहीत होता है, फलतः पदार्थनिदर्शना अलङ्कार है । 'नीलोत्पलश्यामल-देहकान्तिः' में उपमा स्पष्ट है । तीनों अलङ्कारों की भेदेन स्थिति है, अतः तीनों की संसृष्टि है ॥ २ ॥

श्रीसहितस्य भगवतो विष्णोः संस्तवो जगतां रक्षणस्याशंसा चात्र—

वक्षःस्थली रक्षतु सा जगन्ति, जगत्प्रसूतेर्गरुडध्वजस्य ।
श्रियोऽङ्गरागेण विभाव्यते या, सौभाग्यहेम्नः कषपट्टिकेव ॥ ३ ॥

वक्षःस्थलीति—या श्रियः=लक्ष्म्याः । अङ्गरागेण=अङ्गस्य रागेण तप्तहिरण्यवर्णेन

प्रतिबिम्बेन समाश्लेषसङ्क्रान्तकाञ्चनतनुद्युतिना वेत्यर्थः, गाढालिङ्गनसङ्क्रान्तहरिप्रियाशरीरार्पितचन्दनाद्यङ्गरागविलेपनेन वा । अङ्गतीति 'अगि गतौ' धातोरचि रूपम् । 'अङ्गं गात्रे प्रतीकोपाययोः पुंभूम्नि नोवृति' इति मेदिनी । सौभाग्यहेम्नः = सौभाग्यमेव शुभभागधेयं दयितहृदयहरणलब्धासन्नसामीप्यरूपमेव हेम सुवर्णन्तस्य । सुभगस्य भावः सौभाग्यं, सुभगशब्दाद् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि चे' ति भावष्यञि, 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य चे' त्युभयपदवृद्धौ रूपम् । कषपट्टिकेव = निकषपाषाण इव । 'शाणस्तु निकषः कषः' इत्यमरः । विभाव्यते = लक्ष्यते जनैरिति शेषः । सा जगत्प्रसूतेः = जगतां भुवनानां प्रसूतिः कारणं, तस्याः । 'विष्टपं भुवनं जगद्' इत्यमरः । गरुडध्वजस्य = गरुडः सुपर्णः ध्वजे पताकायां यस्य तस्य सुपर्णपताकस्य विष्णोः । 'गोविन्दो गरुडध्वजः' इत्यमरः । वक्षःस्थली = उरःस्थली । जगन्ति = भुवनानि । रक्षतु = पातु । 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुते'ति कविकुलगुरुः कालिदासः । अमुमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपिपादयिषुः कविः श्रीसौभाग्यरूपहेम्नो विशुद्धिपरिचायिका हरिवक्षःस्थली निकषपट्टिकेव राजते इति वर्णयामास । सौभाग्यमेव हेम इति रूपकम् । तस्य कषपट्टिकेव वक्षःस्थलीति सम्भावनया वस्तूत्प्रेक्षा । तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः, तल्लक्षणम्—'अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्करः' इति ॥

अन्वयः—या श्रियः अङ्गरागेण सौभाग्यहेम्नः कषपट्टिका इव विभाव्यते, सा जगत्प्रसूतेः गरुडध्वजस्य वक्षःस्थली जगन्ति रक्षतु ।

अनुवाद—जो लक्ष्मी के अंगराग (देहकान्ति अथवा अंगविलेपन के संक्रमण) से (उनके) सौभाग्यरूपी स्वर्ण की कसौटी सा प्रतीत होता है, वह संसार के जनक विष्णु का वक्षःस्थल भुवनों की रक्षा करे ।

भावार्थ—भगवान् विष्णु की श्यामल वक्षःस्थली पर गौरतनु भगवती श्री की सौवर्णदेहकान्ति प्रतिबिम्बित हो रही है या आश्लेष से उनका अंगराग विष्णु भगवान् के उरःस्थल पर सङ्क्रान्त हो उठा है । भगवान् से भगवती श्री का यह सान्निध्य उनके परमसौभाग्य की सूचना दे रहा है । मानो विष्णु की वक्षःस्थली लक्ष्मी के सौभाग्यरूपी स्वर्ण की कसौटी बन रही है ।

कोषः—'अङ्गं गात्रे प्रतीकोपाययोः पुम्भूम्नि नीवृति' इति मेदिनी । 'शाणस्तु निकषः कषः' इत्यमरः । 'विष्टपं भुवनं जगद्' इत्यमरः । 'गोविन्दो गरुडध्वजः' इत्यमरः ।

अलङ्कार—'सौभाग्यहेम्नः'—इस अंश में रूपक अलङ्कार है, यहाँ उपमेय 'सौभाग्य' का उपमान 'हेम' से अभेद किया गया है । 'कषपट्टिकेव'—इस अंश में वस्तूत्प्रेक्षा है, यहाँ पर 'वक्षःस्थली' उपमेय को 'कषपट्टिका' उपमान के रूप में उत्प्रेक्षित किया गया है ॥ ३ ॥

पार्वतीस्तवनमुखेनार्द्धनारीश्वररूपं वर्णयन् प्रस्तौति—

एकस्तनस्तुङ्गतरः परस्य वार्तामिव प्रष्टुमगान्मुखाग्रम् ।
यस्याः प्रियार्द्धस्थितिमुद्वहन्त्याः सा पातु वः पर्वतराजपुत्री ॥ ४ ॥

एकस्तन इति—प्रियार्द्धस्थितिम् = प्रियस्य भर्तुः शिवस्येत्यर्थः, अर्द्धस्थितिम् अर्द्धेऽर्द्धसमांशे स्वीयतनुदक्षिणभागे स्थितिरवस्थानं, ताम् । 'धवः प्रियः पतिर्भर्ता' इत्यमरः । 'अर्धं समेऽशके' इत्यमरः । उद्वहन्त्याः = धारयन्त्याः । उत्पूर्वकाद् वह् धातोर्लटः शतरि, 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति

नुमि, 'उगितश्चे'ति ङीपि, षष्ठ्येकवचने रूपम्। यस्याः=पार्वत्याः। एकः=वाम इत्यर्थः। तुङ्गतरः=उन्नततरः। द्वयोरतिशयेन तुङ्गस्तुङ्गतरः, तुङ्गशब्दाद् 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुना' विति तरप्प्रत्यये प्रथमैकवचने रूपम्। स्तनः=उरोजः। परस्य=अन्यस्य। वार्ताम्=कुशलप्रवृत्तिम्। 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यादि'त्यमरः। प्रष्टुमिव=जिज्ञासितुमिव। मुखाग्रम्=वदनसामीप्यम्। अगात्=प्रापत्। इण्धातोर्लुङि प्रथमपुरुषैकवचने रूपम्। सा=वर्णितरूपा। पर्वतराजपुत्री=हिमाचलसुता पार्वती। वः=युष्मान्। पातु=रक्षतु। 'परस्तनकुशलवार्तां प्रष्टुं तुङ्गतर एकस्तनः पार्वतीवदनसम्मुखीन इति वार्ताप्रश्नस्य एकस्तनकर्तृक-पार्वतीमुखाग्रकर्मकगमनसम्बन्धिफलत्वेनोत्प्रेक्षणात् फलोत्प्रेक्षा। 'प्रियार्द्धस्थितिमुद्वहन्त्या' इति वर्णनेन भगवत्याः पार्वत्या उद्वहनसामर्थ्यं प्राधान्यमादिशक्तित्वञ्च प्रतीयते। श्रीमच्छङ्कराचार्यैरपि 'चिताभस्मालेपो गरलमशनं दिक्पटधरो, जटाधारी कण्ठे भुजगपतिहारी पशुपतिः। कपाली भूतेशो भजति जगदीशैकपदवीं, भवानि त्वत्पाणिग्रहणपरिपाटीफलमिदम्॥' इति स्तुवद्भिः भगवत्याः प्राधान्यम् वर्णितम्। तन्त्रशास्त्रप्रसिद्धं काश्मीरदेशप्रथितं भगवतीस्वरूपं कविसम्मतमिति ज्ञायते। अर्द्धनारीश्वरो व्यज्यते॥

अन्वयः—प्रियार्द्धस्थितिम् उद्वहन्त्याः यस्याः एकः तुङ्गतरः स्तनः परस्य वार्तां प्रष्टुम् इव अगात्, सा पर्वतराजपुत्री वः पातु।

अनुवाद—प्रिय (शिव) की (अपने) अर्द्धाङ्ग में स्थिति को धारण करती हुई जिन (पार्वती) का एक उन्नततर, (वाम) उरोज दूसरे (दक्षिणवक्ष) को मानो बात पूछने के लिये (उनके) मुख के सामने गया, वह पार्वती आपकी रक्षा करें।

भावार्थ—अर्धनारीश्वर रूप में दक्षिण अर्द्धाङ्ग शिव का और वाम अर्द्धाङ्ग पार्वती का कल्पित किया गया है। वामार्द्ध में पार्वतीस्वरूप का वामस्तन उन्नततर है और दक्षिणार्द्ध शिवस्वरूप का आयत वक्षःस्थल है। उन्नत वाम उरोज आनन के अत्यन्त निकट हो उठा है। इसी कल्पना के आधार पर कवि की उत्प्रेक्षा है कि मानों वाम उरोज अपने सहवर्ती दक्षिण उरोज को न पाकर उसके सम्बन्ध में पूछ रहा है। इस सारे वर्णन से अर्द्धनारीश्वर रूप की व्यंजना हो रही है।

कोषः—'धवः प्रियः पतिर्भर्ता' इत्यमरः। 'अर्धं समेंशके' इत्यमरः। 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः' इत्यमरः।

अलङ्कार—वामस्तन पार्वती के आनन के सम्मुख जाता है। इस गमन क्रिया के फलरूप में 'वार्ता' को उत्प्रेक्षित किया गया है, अतः 'फलोत्प्रेक्षा' अलंकार है। 'अर्द्धनारीश्वर' रूप की व्यंजना इस वर्णन से होती है। कवि का अभिमत तन्त्रसम्मत आदिशक्ति का अर्द्धनारीश्वर रूप प्रतीत होता है॥ ४॥

लक्ष्मीप्रतिबिम्बगर्भनन्दकवर्णनेन कालिन्दीप्रवाहान्तर्गतराधारूपमेव स्मारयति—

सान्द्रां मुदं यच्छतु नन्दको वः सोल्लासलक्ष्मीप्रतिबिम्बगर्भः।
कुर्वन्नजस्रं यमुनाप्रवाहसलीलराधास्मरणं मुरारेः॥ ५॥

सान्द्रामिति—सोल्लासलक्ष्मीप्रतिबिम्बगर्भः = उल्लासेन प्रियसन्निधिजन्यहर्षभरेण सहिता सोल्लासा, 'तेन सहेति तुल्ययोग' इति बहुव्रीहिः, 'वोपसर्जनस्य' इति सहस्य सभावः, सोल्लासायाः प्रतिबिम्बं प्रतिच्छाया, गर्भे अभ्यन्तरे यस्य सः। 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया।' इत्यमरः। नन्दकः = एतन्नामकविष्णुखड्गः। 'शङ्खो लक्ष्मीपतेः पाञ्चजन्यश्चक्रं सुदर्शनः। कौमोदकी गदा खड्गो नन्दकः कौस्तुभो मणिः' इत्यमरः। मुरारेः = मुरस्य तन्नामकस्य अरिः शत्रुस्तस्येत्यर्थः। यमुनाप्रवाहसलीलराधास्मरणम् = यमुनायाः कालिन्द्याः प्रवाहे धारायां लीलया सहिता सलीला तस्याः सक्रीडायाः राधायाः स्मरणं स्मृतिम्। 'लीलां विदुः केलिविलासखेलाशृङ्गारभावप्रभवक्रियासु' इति विश्वः। अजस्रम् = निरन्तरम्। 'सततानारताश्रान्तसन्ततविरतानिशम्। नित्यानवरताजस्रमपि' इत्यमरः। कुर्वन् = कालिन्दीप्रवाहविहरमाणराधास्मरणं कारयन्नित्यर्थः। अन्तर्भावितण्यर्थोऽयं कृधातुप्रयोगः, शतरि प्रथमैकवचने रूपम्। वः = युष्माकम्। सान्द्राम् = घनीभूताम्। 'घनं निरन्तरं सान्द्रम्' इत्यमरः। मुदं = हर्षम्। 'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः' इत्यमरः। यच्छतु = वितरतु। नन्दको नाम विष्णुखड्गः स्वश्यामिकया प्रभाप्रवाहेण च यमुनाप्रवाहसदृशः लक्ष्म्याश्च राधया साम्यमिति स्मृतिः सम्भवति। लक्ष्मीप्रतिच्छायासहितं नन्दकं विलोक्य भगवतः सादृश्याद् यमुनाप्रवाहान्तर्गतक्रीडापरायणायाः राधिकायाः स्मरणमिति स्मरणालङ्कारः। तल्लक्षणञ्च—'यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः स्मरणमि'ति॥

अन्वयः—सोल्लासलक्ष्मीप्रतिबिम्बगर्भः नन्दकः मुरारेः यमुनाप्रवाहसलीलराधास्मरणम् अजस्रं कुर्वन् वः सान्द्रां मुदं यच्छतु।

अनुवाद—उल्लसित लक्ष्मी के प्रतिबिम्ब से युक्त नन्दक (नामक विष्णु का खड्ग) मुरारि को यमुना के प्रवाह में क्रीडा करती राधा का निरन्तर स्मरण कराता हुआ आपको घनीभूत हर्ष प्रदान करे।

भावार्थ—भगवान् विष्णु के हाथ में चमकता हुआ नन्दक नामक खड्ग है। इस खड्ग में हर्ष से उत्फुल्ल लक्ष्मी का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। चूँकि नीली चमक से युक्त खड्ग श्यामल कालिन्दीप्रवाह के समान है और उसमें उल्लसित लक्ष्मी का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, जो राधा की तरह हैं, अतः भगवान् को यमुना के प्रवाह में क्रीडा करती राधिका का स्मरण निरन्तर हो रहा है।

कोषः—'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया' इत्यमरः। 'शङ्खो लक्ष्मीपतेः पाञ्चजन्यश्चक्रं सुदर्शनम्। कौमोदकी गदा खड्गो नन्दकः कौस्तुभो मणिः॥' इत्यमरः। 'लीलां विदुः केलिविलासखेलाशृङ्गारभावप्रभवक्रियासु' इति विश्वः। 'सततानारताश्रान्तसन्ततविरतानिशम्। नित्यानवरताजस्रमपि' इत्यमरः। 'घनं निरन्तरं सान्द्रम्' इत्यमरः। 'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः' इत्यमरः।

अलङ्कार—हर्ष से उल्लसित लक्ष्मी का लीलापरायण राधा से साम्य है और नन्दक का यमुना प्रवाह से अतः उल्लसित लक्ष्मीप्रतिबिम्बगर्भ नन्दक को देख कर भगवान् को यमुना प्रवाह में लीला करती राधा का स्मरण हो रहा है, अतः 'स्मरण' अलङ्कार है॥ ५॥

अथ शिवस्तवनं प्रस्तौति--

पार्श्वस्थपृथ्वीधरराजकन्याप्रकोपविस्फूर्जितकातरस्य ।
नमोऽस्तु ते मातरिति प्रणामाः शिवस्य सन्ध्याविषया जयन्ति ॥ ६ ॥

पार्श्वस्थेति—पार्श्वस्थपृथ्वीधरराजकन्याप्रकोपविस्फूर्जितकातरस्य = धरन्तीति धराः, 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' इति 'धृ' धातोः पचादित्वादच्, पृथिव्या धराः पृथ्वीधराः पर्वताः, तेषां राजा पृथ्वीधरराजः, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच्, 'नस्तद्धिते' इति नान्तस्य भस्य टेर्लोपः, तस्य कन्या पुत्री पृथ्वीधरराजकन्या, पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्था समीपस्था उपपदसमासः, 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कः, 'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोपः, पार्श्वस्था चासौ पृथ्वीधरराजकन्येति पार्श्वस्थपृथ्वीधरराजकन्या, तस्याः प्रकोपः क्रोधस्तस्य विस्फूर्जितं विजृम्भणं, तेन कातरस्य भीतस्य । वामपार्श्वस्थिताया उमाया ईर्ष्याजनितरोषोदयेन भयातुरस्येत्यर्थः । शिवस्य = शङ्करस्य । मातः = जननि । ते = तुभ्यम् । नमोऽस्तु-इति सन्ध्याविषयाः = सन्ध्याकालाधिष्ठातृदेवतामधिकृत्य विहिताः । 'इति प्रकरणे हेतौ प्रकाशादिसमाप्तिषु । निदर्शने प्रकारे स्यादनुकर्षे च सम्मतम् ।' इति विश्वः । जयन्ति = सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते । कदाचिच्छिवः सन्ध्यां कामयमानः, एतच्च विज्ञाय कथमन्यनायिकायामनुरक्त इति भावेन भृशं रुष्टायां पार्वत्यां, सन्ध्यां मातरिति सम्बोध्य पार्वतीगतं सन्देहं न्यवारयदिति कथात्र निहिता ।

अन्वयः—पार्श्वस्थपृथ्वीधरराजकन्याप्रकोपविस्फूर्जितकातरस्य शिवस्य हे मातः ते नमः अस्तु इति सन्ध्याविषयाः प्रणामाः जयन्ति ।

अनुवाद—पार्श्व में स्थित, पर्वतराज हिमाचल की पुत्री, पार्वती के कोप विजृम्भण से कातर शिव के 'हे मातः तुम्हें प्रणाम है' इस प्रकार के सन्ध्या के लिए किये प्रणाम सर्वातिशायी हैं ।

भावार्थः—कभी भगवान् शिव सन्ध्यावेला की अधिष्ठात्री देवी के प्रति अनुरक्त से दिखे । इसे देखकर भगवती भवानी कुपित हो गयीं । शिव ने इस रोष से भीत होकर सन्ध्या को 'मातः' सम्बोधित कर प्रणाम किया, इस प्रकार भगवती पार्वती का सन्देह दूर हो गया ।

कोपः—'इति प्रकरणे हेतौ प्रकाशादिसमाप्तिषु । निदर्शने प्रकारे स्यादनुकर्षे च सम्मतम्' इति विश्वः ।

अलंकार—भगवान् शिव सन्ध्या के प्रति वस्तुतः अनुरक्त थे, भवानी के रोष से भीत होकर सन्ध्या को 'मातः' कह कर सम्बोधित करते हैं, और इस प्रकार अपने भावों का गोपन करते हैं—यदि इस श्लोक यह भाव स्वीकार करें, तो यहां 'अवहित्था' नामक भाव है । इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'भावगुप्तिरवहित्था' ॥ ६ ॥

अथ वाग्देवतां स्तौति—

वचांसि वाचस्पतिमत्सरेण साराणि लब्धुं ग्रहमण्डलीव ।
मुक्ताक्षसूत्रत्वमुपैति यस्याः, सा सप्रसादास्तु सरस्वती वः ॥ ७ ॥

वर्चांसीति—ग्रहमण्डली = ग्रहाणां मण्डलो वाचस्पतिद्वेषेण, वयं खलु ग्रहाः अयमपि ग्रह इति ग्रहत्वसाम्येऽपि एष वचसां पतिरित्याख्यया सुराचार्यत्वेन च कमपि बहुमानं भजत इतीर्ष्यया। 'बृहस्पतिः सुराचार्यो गीष्पतिर्धिषणो गुरुः' इत्यमरः। साराणि = न्याय्यानि वराणि वा। 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्यमरः। वचांसि = ज्ञानप्रदवचनानि। लब्धुमिव = प्राप्तुमिव, बृहस्पतितोऽप्यधिकतरं ज्ञानमवाप्तुमिवेत्यर्थः। यस्याः = सरस्वत्याः। मुक्ताक्षसूत्रत्वम् = मौक्तिकजपमालात्वम्। उपैति = प्राप्नोति। सा सरस्वती = वाग्देवता। वः = युष्मभ्यम्। सप्रसादा = प्रसन्ना। अस्तु = भवतु। वाचस्पतिमात्सर्यात् सारवचःप्राप्त्यभिलापस्य ग्रहमण्डल्यां मुक्तासूत्रत्वारोपे फलत्वेनोत्प्रेक्षणात् फलोत्प्रेक्षालङ्कारः इवपदवाच्यः॥

अन्वयः—ग्रहमण्डली वाचस्पतिमत्सरेण साराणि वर्चांसि लब्धुमिव यस्याः मुक्ताक्षसूत्रत्वम् उपैति सा सरस्वती वः सप्रसादा अस्तु।

अनुवाद—(बृहस्पति के अतिरिक्त) ग्रहमंडली वाचस्पति के प्रति (वाणी के अधिपति पद को प्राप्त करने के कारण) ईर्ष्या से उत्तम वचनों को मानो प्राप्त करने के लिये जिसकी जपमाला बन गये, वह सरस्वती आपके लिये अनुग्रह युक्त हों।

भावार्थ—भगवती सरस्वती के गले में पड़ी मौक्तिकमाला जैसी प्रभामण्डित, मंडलाकार है वैसी ही ग्रहमंडली भी है। कवि उत्प्रेक्षा करता है मानो बृहस्पति वाचस्पति हैं, तो हम भी क्यों न साक्षात् सरस्वती से ही श्रेष्ठ वाणी प्राप्तकर वाचस्पति बन जायँ, इस इच्छा से वाग्देवता के गले में माला बनकर आ गये हैं।

कोषः—'बृहस्पतिः सुराचार्यो गीष्पतिर्धिषणो गुरुः।' इत्यमरः।

अलङ्कार—ऊपर प्रदर्शित प्रकार से यहाँ फलोत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ ७॥

मङ्गलवचनपरिणतौ विघ्नविघातकं गजाननमेव स्मरति—

> अशेषविघ्नप्रतिषेधदक्ष-मन्त्राक्षतानामिव दिङ्मुखेषु।
> विक्षेपलीला करशीकराणां करोतु वः प्रीतिमिभाननस्य॥ ८॥

अशेषेति—इभाननस्य = इभस्य गजस्याननं मुखमिवाननं मुखं यस्य गणेशस्य। 'दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकपो द्विपः। मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी॥ इभः स्तम्बेरमः पद्मी' इत्यमरः। 'समुदायशब्दा अवयवेऽपि वर्तन्ते' इति इभमुखपरः इभशब्दः। इभाननः गजाननः इत्यर्थः। 'विनायको विघ्नराजद्वैमातुरगणाधिपाः। अप्येकदन्तहेरम्बलम्बोदरगजाननाः' इत्यमरः। अशेषविघ्नप्रतिषेधदक्षमन्त्राक्षतानाम् इव = अशेषाश्च ते विघ्नाः प्रत्यूहाः तेषां प्रतिषेधे निवारणे दक्षाणां समर्थानां मन्त्राक्षतानामिव निखिलान्तरायध्वंससमर्थवेदमन्त्राभिपवित्रीकृताक्षतानामिवेत्यर्थः। 'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः' इत्यमरः। 'लाजाः पुम्भूम्नि चाक्षताः' इत्यमरः। करशीकराणाम् = शुण्डोत्क्षिप्तजलकणानाम्, करशीकरा एव वमथुशब्देनापि कथ्यन्ते। 'वमथुः करशीकरः' इत्यमरः। 'शीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः' इत्यमरः। दिङ्मुखेषु = सर्वासु दिक्षु। विक्षेपलीला = विक्षेपक्रीडा, गजानां च सा स्वाभाविक्येव। वः = युष्माकम्, सम्बन्ध-

सामान्ये षष्ठी। प्रीतिम्=आनन्दम्। करोतु=विदधातु। करशीकरेषु मन्त्राक्षतत्वस्योत्प्रेक्षणाद् वस्तूत्प्रेक्षा ॥

अन्वयः—इभाननस्य अशेषविघ्नप्रतिषेधदक्षमन्त्राक्षतानाम् इव करशीकराणां दिङ्मुखेषु विक्षेपलीला वः प्रीतिं करोतु।

अनुवाद—सारे विघ्नों के निवारण में समर्थ मानो मन्त्रपूत अक्षतों सरीखे, शुण्डा (से विक्षिप्त) जलकणों की, दिगन्तों तक विखराने की, गजानन की लीला, आपकी प्रीति का विधान करे।

भावार्थ—गणेश जी का मुख गज का है। गज का स्वभाव सूँड में जल भरकर इधर-उधर बिखराने का है। इसी आधार पर कल्पना है कि प्रसन्न हुए गजानन अपनी सूंड़ से दिगन्तों तक जलकण का विक्षेप कर रहे हैं—मानों विघ्न की निवृत्ति के लिये मन्त्राभिपूत अक्षत बिखेर रहे हों।

कोषः—'दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकपो द्विपः। मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी॥ इभः स्तम्बेरमः पद्मी' इत्यमरः। 'विनायको विघ्नराजद्वैमातुरगणाधिपाः। अप्येकदन्तहेरम्बलम्बोदरगजाननाः' इत्यमरः। 'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः' इत्यमरः। 'लाजाः पुम्भूम्नि चाक्षताः' इत्यमरः। 'वमथुः करशीकरः' इत्यमरः। 'शीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः' इत्यमरः।

अलङ्कार—शुण्ड के विक्षिप्त जलकणों में मन्त्राक्षतत्व का उत्प्रेक्षण किया जा रहा है, अतः वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥८॥

अथ वैदर्भीरीतिं प्रशंसन् काव्यप्रस्तावनामेवावतारयति—

अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम् ॥ ९ ॥

अनभ्रेति—श्रवणामृतस्य=श्रवणयोः कर्णयोर्यदमृतं सुधा तर्पकत्वेनानन्दप्रदायि किमपि लोकोत्तरं वस्त्वित्यर्थः, तस्याः। 'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः। अनभ्रवृष्टिः=अभ्रम् मेघः, न अभ्रम् अनभ्रम्, अनभ्रे पयोदादर्शने वृष्टिर्वर्षणमित्यनभ्रवृष्टिः वैदर्भीरीतिरित्यग्रिमेण सम्बन्धः। एषा लोकोत्तरा कार्यकारणसम्बन्धादि जागतिकनियमनिरपेक्षैव कविनिर्मितिः। अत एवाह्लादैकमयी सा ब्रह्मनिर्मित्यपेक्षयोत्कृष्टेति तद्रीतिरपि तथैवेति ध्वन्यते। 'अभ्रं मेघो वारिवाहस्तनयित्नुर्बलाहकः' इत्यमरः। सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः सरस्वत्या वाग्देव्या विभ्रमाणां विलासानां जन्मभूमिराविर्भावस्थानम्। 'स्त्रीणां विलासबिब्बोकविभ्रमा ललितं तथा' इत्यमरः। पदानाम्=सार्थकव्यवहार्यशब्दानाम् सुप्तिङन्तात्मनामित्यर्थः। सौभाग्यलाभप्रतिभूः=सौभाग्यस्य सौष्ठवस्य, सुभगशब्दात् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति भावे ष्यञि षष्ठ्येकवचने रूपम्, लाभः प्राप्तिः तस्य प्रतिभूः प्रतिलम्भिका, यथा ऋणादौ प्रतिनिधिभूतः प्रतिभूरन्यस्मै कस्मैचित् ऋणं दापयति तथैव पदानां सौष्ठवप्राप्तये वैदर्भीरीतिरपि मध्यस्थीभूता कञ्चन महिमानमावहति काव्यसर्जनक्रियायामिति प्रतिपाद्यते। वैदर्भीरीतिः=गौडीपाञ्चालीवैदर्भीरीतयः, रीतित्रय एकतमा। 'माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका। अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरुच्यते' इति वैदर्भीलक्षणम्। कृति-

नाम्=उत्कृष्टकाव्यरचनाचतुराणां वस्तुतः कवीनाम्। उदेति=प्रादुर्भवति। कविकुलगुरुकालिदासनिभा द्वित्राः पञ्चषा वा कवय एव वैदर्भीरीतौ काव्यं रचयितुं प्रभवन्तीत्याशयः। वैदर्भीरीतौ श्रवणामृतानभ्रवृष्टेः, सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमेः, सौभाग्यलाभप्रतिभूत्वस्य चारोपाद् रूपकालङ्कारः, 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' इति लक्षणात्॥

अन्वयः—श्रवणामृतस्य अनभ्रवृष्टिः सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः पदानां सौभाग्यलाभप्रतिभूः वैदर्भीरीतिः कृतिनाम् उदेति।

अनुवाद—श्रवणामृत की अनभ्रवृष्टि (बिना मेघ की वर्षा), सरस्वती के विलास की जन्मभूमि, पदों के सौष्ठवप्राप्ति की प्रतिभू (मध्यस्थ, जमानत देने वाली) वैदर्भीरीति (कविकर्म में कुशल किन्हीं-किन्हीं) कवियों में ही आविर्भूत होती है।

भावार्थ—काव्यरचना की प्रक्रिया में वैदर्भीरीति के प्रयोग में कुशल कुछ विरले ही कवि होते हैं। यह वैदर्भीरीति भी श्रवणामृत की अनभ्रवृष्टि सी अर्थात् शब्दमाधुर्य की सहज-व्यंजिका, सरस्वती के विलास की जन्मभूमि अर्थात् कविता के समस्त लालित्य का स्रोत तथा पदों के सौष्ठव को प्राप्त कराने में मध्यस्थ अर्थात् जैसे ऋण आदि लेते समय मध्यस्थ जमानतदार यह प्रतिज्ञाकर ऋण दिलवा ही देता है कि यदि ऋण ग्रहण करनेवाला नहीं लौटाता, तो वह ऋण लौटायेगा, वैसे ही वैदर्भीरीति पदों को वह सौन्दर्य प्राप्त कराती है, जो सुन्दर अर्थ प्रतिपादन से ही मिलता है। पदों को यह गौरव प्राप्त कराने में वैदर्भीरीति की ऐसी ही मध्यवर्तिता है।

कोषः—'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः। 'अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः' इत्यमरः। 'स्त्रीणां विलासबिब्बोकविभ्रमा ललितं तथा' इत्यमरः।

अलङ्कार—वैदर्भीरीति पर श्रवणामृत की अनभ्रवृष्टि, सरस्वती विलास की जन्मभूमि तथा सौभाग्यलाभ की प्रतिभू होने का समारोप किया जा रहा है, अतः रूपक अलङ्कार है॥ ९॥

सत्कविप्रशंसा प्रस्तूयते—

जयन्ति ते पञ्चमनादमित्रचित्रोक्तिसन्दर्भविभूषणेषु।
सरस्वती यद्वदनेषु नित्यमाभाति वीणामिव वादयन्ती॥ १०॥

जयन्तीति—सरस्वती=वाग्देवता। सरोऽस्त्यस्या इति सरस्वती मतुपि रूपम्। 'सरस्वती सरिद्भिदि। वाच्यापगायां स्त्रीरत्ने गोवाग्देवतयोरपि' इति हैमः। पञ्चमनादमित्रचित्रोक्तिसन्दर्भविभूषणेषु=पञ्चमनादस्य पञ्चमस्वरस्य पिकस्य वा, मित्राणि समानानि मित्रपदेन सादृश्यकथनम्, चित्राणां रसालङ्कारादिभिश्चमत्कारिणीनाम्, उक्तीनां काव्यभणितीनां, सन्दर्भाः समूहा इति पञ्चमनादमित्रचित्रोक्तिसन्दर्भाः पिकपञ्चमस्वरमधुरचमत्कारिवचनकलापाः, ते एव विभूषणान्यलङ्करणानि येषां तानि तेषु। 'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः। पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः॥' इत्यमरः। तत्र पञ्चमस्वरं कोकिलो नदति, तथाच नारदः—"षड्जं रौति मयूरस्तु गावो नर्दन्ति चर्षभम्। अजाविकौ च गान्धारं क्रौञ्चो नदति मध्यमम्॥ पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रौति पञ्चमम्। अश्वस्तु धैवतं रौति, निषादं रौति कुञ्जरः॥"

इति । यद्वदनेषु = येषां कवीनां वदनेषु मुखेषु । नित्यम् = सततम् । वीणाम् = कच्छपीं वल्लकीम् । 'वीणा तु वल्लकी । विपञ्ची' इत्यमरः । वादयन्तीव = सारयन्तीव । आभाति = शोभते । ते = कवयः । जयन्ति = सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते । कोकिलनादमधुररसरीत्यलङ्कारादिचमत्कारिणीनां भणितीनां सर्जने दक्षाणां वदने कवीनां वाग्देवता स्वयमेव निखिलवाचां सारभूतं 'मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरी भाग्यभाजं' स्वीयवीणाझणत्कारमातनोतीवेत्याशयः । कविवदने वीणावादनस्योत्प्रेक्षणाद् उत्प्रेक्षालङ्कारः । अभेदसम्बन्धातिरिक्तसम्बन्धेन कविवदने वीणावादनस्य सम्भाव्यमानत्वमिति ।

अन्वयः—सरस्वती पञ्चमनादमित्रचित्रोक्तिसन्दर्भविभूषणेषु यद्वदनेषु नित्यं वीणां वादयन्ती इव आभाति ते जयन्ति ।

अनुवाद—(कोकिल के) पंचम नाद के समान (मधुर) चमत्कारी (काव्य) भणितिसमूह रूप अलङ्करण वाले जिन (कवियों) के मुखों में सरस्वती सतत वीणावादन करती सी शोभित होती हैं, वे सब से महान् हैं ।

भावार्थः—रससिक्त चमत्कारिणी काव्यभणिति वाणी का प्राण है । सिद्ध कवीश्वरों की वाणी में वाङ्मय का वही माधुर्य अभिव्यक्त होता है । इसी आशय को उपपन्न करने के लिये कवि कहता है कि कोकिल के पंचमनाद की तरह मधुर चित्रोक्ति जिनके मुख में सन्निहित है, उन कवीश्वरों के वदन में मानों वाणी की अधिदेवता स्वयं ही अपनी वीणा कच्छपी का वादन करती सी शोभित होती हैं ।

कोषः—'सरस्वती सरिद्भिदि । वाच्यापगायां स्त्रीरत्ने गोवाग्देवतयोरपि' इति हैमः । 'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः । पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः ॥' इत्यमरः । 'वीणा तु वल्लकी विपञ्ची' इत्यमरः ।

अलङ्कार—कविवदन में सरस्वती के वीणावादन का उत्प्रेक्षण करने के कारण उत्प्रेक्षालङ्कार है । जिस प्रकार आभूषणों से मधुर झङ्कार होती है, वैसे सत्कवियों के मुख से काव्यपदावली का सर्जन होता है । अतएव उनके मुख में सरस्वती के वीणावादन का उत्प्रेक्षण किया गया है ॥ १० ॥

तत्र कविपदेन मिथ्याकवयोऽपि दृश्यन्त इति वर्णयति—

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः ।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥ ११ ॥

साहित्येति—कवीन्द्राः = कविश्रेष्ठाः, सम्बुद्धिबहुवचने रूपम् । साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थम्—साहित्यम् काव्यम् , शब्दार्थयोः सहितयोः समुचितललितसन्निवेशचारुसमवस्थितयोर्भावः साहित्यम् , तदेव पाथसाम् उदकानां निधिरिव समुद्र इव तस्य मन्थनाद् आलोडनाच्चिराभ्यासादित्यर्थः, उत्तिष्ठतीति साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यसागरालोडनसमुद्भूतमित्यर्थः । कर्णामृतम् = कर्णयोः श्रवणयोः अमृतं पीयूषम् । रक्षत = अपहाराद् गोपायत । यद् = यस्मात् । अस्य = बहुतरप्रयत्नसमर्जितस्य काव्यपीयूषस्य । लुण्ठनाय = अपहरणाय । काव्यार्थचौराः =

काव्यार्थस्य काव्यरूपद्रव्यस्य चौरास्तस्कराः। दैत्या इव=सागरमथनोद्भूतामृतापहारसन्नद्धा असुरा इव। प्रगुणीभवन्ति=अप्रगुणाः प्रगुणाः सम्पद्यन्ते इति प्रगुणीभवन्ति बहुलीभवन्ति। प्रगुणशब्दाद् भूधातुयोगे अभूततद्भावे 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' इति च्विः 'अस्य च्वौ' इति णकारोत्तरवर्त्यकारस्य 'ईकारे' रूपम्। 'साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतम्' 'दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः' इत्यत्र साहित्यसमुद्र-काव्यार्थचौरदैत्यसाम्यादुपमा तत्र पाथोनिधिमन्थनमिव काव्याभ्यासः, अमृतापहार इव काव्यामृतलुण्ठनं समानधर्मतयोपवर्णितम्। उपमालक्षणं च 'साधर्म्यमुपमा भेदे' इति।

अन्वयः—हे कवीन्द्राः साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत। यत् अस्य लुण्ठनाय काव्यार्थचौरा दैत्या इव प्रगुणीभवन्ति।

अनुवाद—ओ कविश्रेष्ठो, साहित्यसमुद्र के आलोडन से उद्भूत कर्णामृत की रक्षा करो, क्योंकि इसको लूटने के लिए दैत्यों की भाँति काव्यार्थ के चौर (क्षुद्र कवि) बढ़ रहे हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार सागरमन्थन के घोर आयास के बाद दुर्लभ अमृत को लूटने के लिए दैत्य उमड़ आये थे, उसी प्रकार काव्यजलधि के मन्थन से कानों के लिये जिस अमृत की सृष्टि हुई है, उसे लूटने को काव्यार्थ के चौर बहुत बढ़ रहे हैं। वे श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं से चोरी करते हैं। इस प्रकार वे न केवल अन्य के स्वत्व का अपहरण करते हैं, अपि तु श्रेष्ठ कवि के काव्य से चुरा कर भी वे अपनी अक्षमता से उसी काव्यार्थ को कुरूप भी कर देते हैं। अतः उस कर्णामृत की रक्षा की जानी चाहिये।

कोषः—'कबन्धमुदकं पाथः' इत्यमरः।

अलङ्कार—साहित्य की सागर से तथा अमृतापहार के लिये तत्पर दैत्यों से काव्यार्थ के चोरों की तुलना के कारण उपमा अलङ्कार है ॥ ११ ॥

अथवा अक्षय्योऽयं सिन्धुरिति प्रतिपादयति—

गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेष्टं, नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम्।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः ॥ १२ ॥

गृह्णन्त्विति—यदि वा=अथवा। सर्वे=निखिलाः, काव्यार्थचौराः क्षुद्राः कवयः अन्ये सहृदयाश्च। यथेष्टम्=यथाकामम्, इष्टमनतिक्रम्य यथा स्यात्तथा यथेष्टम्। गृह्णन्तु=काव्यार्थम् अपहरन्तु आस्वादयन्तु च। तथापि कवीश्वराणाम्=कविश्रेष्ठानाम्। कापि क्षतिः=काचिदपि हानिः। नास्ति=नैव भवितुं शक्येत। अनन्तसहृदयमनःप्रीतिकरभणितिसमृद्धः काव्यकोषः कियताप्यपहारेण आस्वादेन च नैव क्षय्यतां नेतुं शक्यते, तथा चोक्तम् 'अपूर्वः कोऽपि कोषोऽयं विद्यते तव भारति। व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति सञ्चयात् ॥' इति। तदेव पुष्णाति—अमर्त्यैः=मर्त्यभिन्नैः देवैरन्यैश्च। "आदित्या ऋभवोऽस्वप्ना अमर्त्या अमृतान्धसः" इत्यमरः। बहुषु=असङ्ख्येषु। रत्नेषु=मण्यादिश्रेष्ठवस्तुषु। लुप्तेषु=अपहृतेषु सत्स्वपि। अद्यापि=इदानीमपि। सिन्धुः=सागरः 'उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोर्णवः' इत्यमरः। रत्नाकरः=रत्नानां मणीनाम् आकरः निधिरेव प्रसिद्धः। देवादिभिः प्रचुररत्नानि गृहीतानि,

तथापि रत्नाकरस्य रत्नाकरत्वं न विहन्यते, अक्षय्यभाण्डारस्य रत्नाकरस्य रत्नापहारेणापि न कापि-क्षतिरित्ति भावः। तथैव निसर्गप्रतिभाजुषां कवीश्वराणां काव्यापहारेणापि न क्षतिः सम्भाव्यते, का कथा काव्यास्वादनस्य, काव्योदधेरपि, सुतरामक्षय्यत्वात्। अत्र दृष्टान्तालङ्कारः, 'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्'॥

अन्वयः—यदि वा सर्वे यथेष्टं गृह्णन्तु। कवीश्वराणां कापि क्षतिः न अस्ति। अमर्त्यैः बहुषु रत्नेषु लुप्तेषु अद्य अपि सिन्धुः रत्नाकरः एव।

अनुवाद—अथवा सभी यथेच्छ ग्रहण करें, कविश्रेष्ठों की कोई हानि नहीं है। देवों द्वारा बहुत से रत्नों के अपहरण करने पर भी समुद्र आज भी रत्नाकर ही है।

भावार्थ—अथवा काव्यार्थचोरों के अपहरण से कविश्रेष्ठों को कोई चिन्ता नहीं होगी। वे यथेच्छ ग्रहण करें, इससे कवीश्वरों की कोई क्षति न होगी। क्योंकि रत्नाकर से देवों ने समुद्रमंथन के समय बहुत से रत्न ले लिये, फिर भी समुद्र रत्नाकर ही कहलाता है।

कोषः—'आदित्या ऋभवोऽस्वप्ना अमर्त्या अमृतान्धसः' इत्यमरः। 'उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः' इत्यमरः।

अलङ्कार—यहाँ पूर्व श्लोक में वर्णित 'काव्यपाथोनिधि' का भङ्ग्यन्तर से 'दृष्टान्त' अलङ्कार द्वारा वर्णन किया जा रहा है॥ १२॥

तत्र सत्स्वपि बहुषु काव्येषु किमर्थमयं यत्नः? एतदेवोत्तरयति—

सहस्रशः सन्तु विशारदानां, वैदर्भलीलानिधयः प्रबन्धाः।
तथापि वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः, श्रद्धां विधास्यन्ति सचेतसोऽत्र॥ १३॥

सहस्रश इति—विशारदानाम्=काव्यनिर्माणदक्षाणाम् महाकवीनाम्। वैदर्भलीला-निधयः=वैदर्भी लीलेति वैदर्भलीला विदर्भदेशोद्भवा रीतिः, तस्याः निधय आकरभूताः। प्रबन्धाः=काव्यानि। सहस्रशः=असङ्ख्येयाः। सहस्राणि सहस्राणीति सहस्रशः, नित्य-वीप्सयोरिति द्विर्वचनम्, 'सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' इति सङ्ख्यावचनात् सहस्रशब्दात् शस्प्रत्यये रूपम्। सन्तु=भवन्तु नाम, नैतावताऽस्माकं प्रयत्नः सहृदयैरुपेक्ष्यते। एतदेवोपपा-दयति—तथापि=तेषु प्रबन्धेषु सत्स्वपि। वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः=वैचित्र्यं चमत्कारः सहृदयहृदय-सर्वस्वः ध्वन्यलङ्कारसन्निवेशकृतो विशेषः, तस्य रहस्ये मर्मणि लुब्धाः लोलुपाः। सचेतसः=काव्यानुभवानुकूलचेतसा सह वर्तमानाः कविहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। अत्र=अस्मिन् मदीये काव्ये। श्रद्धाम्=स्पृहाम्, विशिष्टां प्रीतिमित्यर्थः। 'सन्धा प्रतिज्ञा मर्यादा श्रद्धा सम्प्रत्ययः स्पृहा' इत्यमरः। विधास्यन्ति=करिष्यन्ति। सत्स्वपि बहुषु काव्येषु मदीयकाव्ये वैचित्र्यलुब्धै-रादरः प्रदातव्य एव भविष्यति। द्रष्टव्यात्र गर्वोक्तिः पण्डितराजजगन्नाथानाम्—"परिष्कुर्वन्त्वर्थान् सहृदयधुरीणाः कतिपये, तथापि क्लेशो मे कथमपि गतार्थोऽत्र भविता। तिमीन्द्राः संक्षोभं विदधतु पयोधेः पुनरिमे, किमेतेनायासो भवति विफलो मन्दरगिरेः॥" इति।

अन्वयः—विशारदानां वैदर्भलीलानिधयः प्रबन्धाः सहस्रशः सन्तु। तथापि वैचित्र्यरहस्य-लुब्धाः सचेतसः अत्र श्रद्धां विधास्यन्ति।

अनुवाद—(काव्यरचना में) विशारदों के वैदर्भीरीति के आकर सहस्रों प्रबन्ध हों, फिर भी वैचित्र्य के मर्म के लोभी सहृदय इसके प्रति श्रद्धा करेंगे।

भावार्थ—यद्यपि रीतियों में श्रेष्ठ वैदर्भीरीति में सहस्रों काव्य हैं, तो भी मेरे काव्य का अपना वैशिष्ट्य है। काव्यचमत्कार के वैशिष्ट्य के लोलुप सहृदय इस काव्य के विशेषता के कारण ही इसके प्रति आकृष्ट होंगे।

कोषः—'सन्धा प्रतिज्ञा मर्यादा श्रद्धा सम्प्रत्ययः स्पृहा' इत्यमरः।

अलङ्कार—पूर्व कवियों के प्रति आदर व्यक्त करते हुए भी अपने काव्य के वैशिष्ट्य का निवेदन संस्कृत कवियों की प्रिय शैली है। कभी वह विनय के साथ किया जाता है और कभी गर्व के साथ। विनय के साथ स्वकाव्यगौरव का उपस्थापन महाकवि कालिदास आदि के यहाँ मिलता है और दर्प के साथ पण्डितराज जगन्नाथ जैसे कवियों के यहाँ। कवि बिल्हण की इस उक्ति में विनय और गर्व का अद्भुत मिश्रण है। 'वैदर्भलीलानिधि' कहकर वे पूर्व प्रबन्धों की प्रशंसा करते हैं और अपने काव्य को 'वैचित्र्यरहस्य' से युक्त कहकर उसके वैशिष्ट्य का ख्यापन करते हैं॥ १३॥

तदिदं काव्यं काव्यविचारहस्यज्ञैरेवास्वादनीयम् काव्यालोचनासमर्थानां तिरोहितमेव काव्य-माहात्म्यमिति प्रतिपादयति—

कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु।
कुर्यादनार्द्रेषु किमङ्गनानां केशेषु कृष्णागुरुधूपवासः॥ १४॥

कुण्ठत्वमिति—कवीनाम् = काव्यप्रणेतॄणाम्। गुणः = अपूर्वभणितिचातुर्यम्। साहित्य-विद्याश्रमवर्जितेषु = साहित्यविद्यानुशीलने यः श्रमः सतताभ्यासस्तेन वर्जितेषु रहितेषु काव्य-रहस्यालोचनाक्षमेष्वित्यर्थः। कुण्ठत्वम् = मन्दक्रियत्वम्। 'कुठि प्रतिघाते आलस्ये च' इति धातोः पचाद्यचि कुण्ठः, तस्य भावः कुण्ठत्वमिति रूपम्। 'कुण्ठो मन्दः क्रियासु यः' इत्यमरः। आयाति = प्राप्नोति। साहित्यविद्यानिष्णाताः काव्यालोचनक्षमाः सहृदया एव काव्यमाहात्म्यं ज्ञातुं प्रभवन्ति, न तु साहित्यविद्यानभिज्ञा अरसिका इत्यर्थः। अङ्गनानाम् = सुन्दरीणाम्, कल्याणानि अङ्गानि यासां ता अङ्गनास्तासाम्। 'अङ्गनं प्राङ्गणे याने अङ्गना तु नितम्बिनी' इति हैमः। अनार्द्रेषु = रूक्षेषु। केशेषु = कुन्तलेषु। कृष्णागुरुधूपवासः = कृष्णं च तदगुरु च सुगन्ध-द्रव्यविशेषः, तस्य धूपः धूप्यते अनेन इति धूपः सन्तापनम्, तस्य वासः सुगन्धः। किं कुर्यात् = विडम्बनार्थैव भवेदित्याशयः। अग्नौ सुगन्धद्रव्यं प्रक्षिप्य तद्धूमेन आर्द्राः केशाः अनार्द्रीक्रियन्ते, धूपवासेन वास्यन्ते च, परं न रूक्षाः केशाः तथा कर्तुं पार्यन्ते तथैव सरसचिन्ताः एव काव्यरस-ग्रहणं कर्तुं प्रभवन्ति न तु नीरसा इति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः॥

अन्वयः—कवीनां गुणः साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु कुण्ठत्वम् आयाति। अङ्गनानाम् अना-र्द्रेषु केशेषु कृष्णागुरुधूपवासः किं कुर्यात्।

अनुवाद—कवियों का गुण (वैशिष्ट्य) साहित्यविद्या में श्रम न करने वालों के सामने कुण्ठित हो जाता है। सुन्दरियों के रूखे केशों में काले अगुरु का वास क्या करेगा ?

भावार्थ—जिस प्रकार जल से आर्द्र केशों में ही अगुरु का धूप अच्छी तरह से बस जाता है, रूखे केशों में उस धूम का वास ठहरता ही नहीं, इसी प्रकार रसहीन अस्निग्ध जनों पर काव्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ पाता।

कोषः—'कुण्ठो मन्दः क्रियासु यः' इत्यमरः। 'अगुर्वंवारुराजार्हम्' इति हैमः।

अलङ्कार—यहाँ पर नीरस हृदयों पर कविगुण के कुण्ठित होने का प्रतिबिम्बन अनार्द्र केशों पर अगुरुधूपवास के निष्प्रभावी होने के वर्णन में है, अतः दृष्टान्तालङ्कार है ॥ १४ ॥

नूतनकाव्यप्रकारमाश्रित्य प्राचीनकविमार्गपरित्यागोऽपि श्लाघ्यो भवतीति वर्णयन्नाह—

प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीति-व्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः पदानाम् ।
अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि ॥ १५ ॥

प्रौढीति—पदानाम् = सुप्तिङन्तानां सार्थकानां शब्दानाम्। प्रौढिप्रकर्षेण = काव्यनिर्माण-प्रतिभासम्भूतसमुचितार्थशब्दगुणालङ्कारसन्निवेशबुद्धिवैभवेन । पुराणरीतिव्यतिक्रमः = पुराणी प्राचीना या रीतिरथवा पुराणानां कवीनां या रीतिः परिपाटी तस्याः व्यतिक्रमः परिवर्जनम्। श्लाघ्यतमः = अतिशयेन श्लाघ्यः श्लाघ्यतमः प्रशस्यतमो भवतीति शेषः। अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चु-कानि = अत्युन्नतया अतितुङ्गत्वेन स्फोटितानि विदारितानि कञ्चुकानि स्तनावरणाः कञ्चुलिकाः यैस्तानि। 'कञ्चुको वारबाणे स्यान्निर्मोके कवचेऽपि च। वार्धापकगृहीताङ्गस्थितवस्त्रे च चोलके' इति विश्वः। कान्ताकुचमण्डलानि = दयितास्तनमण्डलानि । काम्यन्ते स्मेति कान्ताः, कमु कान्तौ णिङ् भावे क्तः, टापि रूपम्। 'कान्ता नार्यां प्रियङ्गौ स्त्री ना धवे लोहे चन्द्रसूर्यायःपर्या-यान्तःशिलासु च' इति मेदिनी। वन्द्यानि = स्तुत्यानि । दृष्टान्तालङ्कारः।

अन्वयः—पदानां प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीतिव्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः। अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चु-कानि कान्ताकुचमण्डलानि वन्द्यानि।

अनुवाद—पदों की प्रौढि (प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा स्वीकृत गुण अथवा कवि-प्रतिभामूलकरसालङ्कारादि सन्निवेश) के प्रकर्ष से प्राचीनरीति का परित्याग भी अत्यन्त प्रशंसनीय होगा। अतीव तुंगता के कारण कञ्चुकों को विदीर्ण कर देनेवाले कान्ताओं के स्तनमंडल सराहना के योग्य ही होते हैं।

भावार्थ—प्राचीन कवि के मार्ग का अनुधावन ही स्वीकरणीय पथ नहीं है, अपितु काव्यरचना में परिपक्वता को प्राप्तकर प्राचीन रीति से हटकर रचना ही श्लाघ्य होती है।

कोषः—'रीतिः स्त्रियां स्यन्दप्रचारयो'रिति मेदिनी। 'कञ्चुको वारबाणः स्यान्निर्मोके कवचेऽपि च। वार्धापकगृहीताङ्गस्थितवस्त्रे च चोलके' इति विश्वः। 'कान्ता नार्यां प्रियङ्गौ स्त्री ना धवे लोहे चन्द्रसूर्यायःपर्यायान्तःशिलासु च' इति मेदिनी।

अलंकार—इस श्लोक में दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ १५ ॥

साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु जडेषु प्राज्ञजनमनोहरापि व्युत्पत्तिर्व्यर्थैवेति प्रतिपादयति--

व्युत्पत्तिरावर्जितकोविदाऽपि, न रञ्जनाय क्रमते जडानाम् ।
न मौक्तिकच्छिद्रकरी शलाका, प्रगल्भते कर्मणि टङ्किकायाः ॥ १६ ॥

आवर्जितेति—आवर्जितकोविदापि = आकृष्टाः कोविदाः विद्वांसः यया सा तथाभूतापि । 'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः । धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः सङ्ख्यावान् पण्डितः कविः' इत्यमरः । व्युत्पत्तिः = काव्यशास्त्रादिप्रौढिः । जडानाम् = मूर्खाणाम् । रञ्जनाय = चेतः-प्रीणनाय चमत्काराय वा । न क्रमते = न समर्था भवति । 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' इत्यात्मनेपदम् । मौक्तिकच्छिद्रकरी = मौक्तिकेषु मुक्तासु छिद्रं रन्ध्रं करोतीति मौक्तिकच्छिद्रकरी मुक्ताफलरन्ध्रकर्मसमर्था । 'छिद्रं निर्व्यथनं रोकं रन्ध्रं श्वभ्रं वपा शुषिः' इत्यमरः । शलाका = लोहसूचिका । टङ्किकायाः = पाषाणदारणस्य । 'टङ्कः पाषाणदारणः' इत्यमरः । कर्मणि = पाषाणदारणकर्मणि । न प्रगल्भते = न समर्था भवति । यदि मौक्तिकवेधशलाकया पाषाणदारणं न क्रियते, किमेतेन मौक्तिकवेधशलाकायाः महत्त्वहानिः ? तथैव बुधजनहृदयावर्जिका व्युत्पत्तिर्यदि जडान्न रञ्जयति, न तावता तादृशव्युत्पत्तेर्महत्त्वं क्षीयत इत्याशयः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥

अन्वयः---आवर्जितकोविदा अपि व्युत्पत्तिः जडानां रञ्जनाय न क्रमते । मौक्तिकच्छिद्रकरी शलाका टङ्किकायाः कर्मणि न प्रगल्भते ।

अनुवाद—विद्वानों को आवर्जित करने वाली भी व्युत्पत्ति मूर्खों को आनन्दित नहीं कर सकती । मोतियों में छिद्र करनेवाली शलाका टाँकी के काम में समर्थ नहीं हो पाती ।

भावार्थ--विदग्ध जन को अनुरंजित करनेवाली नव-नव कल्पना एवं रचना कौशल मूर्खों को तो आवर्जित नहीं कर सकेगी । जड लोगों को आवर्जित न कर पाने के कारण ऐसी उक्ति का महत्त्व कम नहीं होता, जैसे मोतियों में छिद्र करनेवाली सलाई अगर पत्थर नहीं तोड़ पाती तो उसका महत्त्व कम नहीं हो जाता ।

कोपः—'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः । धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः सङ्ख्यावान् पण्डितः कविः' इत्यमरः । 'छिद्रं निर्व्यथनं रोकं रन्ध्रं श्वभ्रं वपा शुषिः' इत्यमरः ।

अलंकार—इस श्लोक में दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ १६ ॥

सत्कविसूक्तिभिः परितुष्टाः कुकविरचनासु नानुरज्यन्तीति प्रस्तौति—

कथासु ये लब्धरसाः कवीनां, ते नानुरज्यन्ति कथान्तरेषु ।
न ग्रन्थिपर्णप्रणयाश्चरन्ति, कस्तूरिकागन्धमृगास्तृणेषु ॥ १७ ॥

कथास्विति—ये = जनाः । कवीनाम् = सत्कवीनाम् । कथासु = काव्यकथासु । 'कथ वाक्यप्रबन्धे' धातोरङि टापि रूपम् । 'प्रबन्धकल्पना कथा' इत्यमरः । लब्धरसाः = लब्धः प्राप्तो रस आनन्दो यैस्ते । कथान्तरेषु = अन्यासु कुकविरचनासु । न अनुरज्यन्ति = न रमन्ते । ग्रन्थिपर्णप्रणयाः = ग्रन्थिपर्णे बर्हपुष्पे सुगन्धिक्षुपविशेषे प्रणयः स्नेहो येषां ते । 'ग्रन्थिपर्णं शुकं बर्हपुष्पं स्थौणेयकुक्कुरे' इत्यमरः । कस्तूरिकागन्धमृगाः = कस्तूरिकायाः गन्धो येषु ते तथोक्ता

मृगा हरिणाः। तृणेपु=शष्पेपु 'शष्पं बालतृणं घासो यवसं तृणमर्जुनम्' इत्यमरः। न चरन्ति ग्रन्थिपर्णेपु बद्धादरा मृगास्तृणान्तरं नैव भक्षयन्ति इति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः॥

अन्वयः—ये कवीनां कथासु लब्धरसाः ते कथान्तरेपु न अनुरज्यन्ति। गन्थिपर्णप्रणयाः कस्तूरिकागन्धमृगाः तृणेपु न चरन्ति।

अनुवाद—जिन्हें (महान्) कवियों की कथाओं में रस प्राप्त हो चुका है, वे दूसरी कथाओं (सामान्य कवियों की रचनाओं) में आनन्दित नहीं होते। गन्थिपर्ण (नामक सुगन्धित क्षुप) के प्रेमी कस्तूरी मृग घासपात नहीं चरते।

भावार्थ—जिन्हें महान् कवियों की रचना का आस्वाद प्राप्त हो जाता है, वे सामान्य कवियों की रचना के प्रति आकृष्ट ही नहीं होते। सत्कवि की रचना के लिये आचार्य गोवर्धन की उक्ति है—

'सत्कविरचनाशूर्पां निस्तुपतरशब्दशालिपाकेन।
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधा दासी॥'

कोपः—'प्रबन्धकल्पना कथा' इत्यमरः। 'ग्रन्थिपर्णं शुकं बर्हपुष्पं स्थौणेयकुक्कुरे' इत्यमरः। 'शष्पं बालतृणं घासो यवसं तृणमर्जुनम्' इत्यमरः।

अलंकार—इस श्लोक में दृष्टान्त अलङ्कार है॥ १७॥

सत्कवय एव समासु नितरां शोभन्त इति वर्णयति—

जडेपु जातप्रतिभाभिमानाः, खलाः कवीन्द्रोक्तिपु के वराकाः।
प्राप्ताग्निनिर्वापणगर्वमम्बु, रत्नाङ्कुरज्योतिषि किं करोति॥ १८॥

जडेष्विति—जडेपु=अज्ञेपु। जातप्रतिभाभिमानाः=जातः समुत्पन्नः प्रतिभायाः नवनवोन्मेपशालिन्याः प्रज्ञाया अभिमानो गर्वो येपां ते। 'बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा। प्रज्ञां नवनवोन्मेपशालिनीं प्रतिभां विदुः' इति प्रतिभालक्षणमुक्तम्। 'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारो मानश्चित्तसमुन्नतिः। दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेकः स्मयो मदः' इत्यमरः। खलाः=कुकवयः। कवीन्द्रोक्तिपु=कवीन्द्राणां महाकवीनाम् उक्तिपु भणितिपु प्रवर्तमानासु। वराकाः केवः देय तपीत्यर्थः। महाकवीनां पुरस्तात् क्षणमात्रमपि कुकवयः स्थातुं न क्षमन्त इत्याश=नङ्के। दृष्टान्तेन द्रढयति–प्राप्ताग्निनिर्वापणगर्वम्=प्राप्तो लब्धोऽग्निनिर्वापणस्य वह्निशमनस्य गर्वो दर्पो येन तत्। अम्बु=जलम्। रत्नाङ्कुरज्योतिपि=रत्नस्य मणेरङ्कुर एव ज्योतिः प्रकाशस्तस्मिन्। किं करोति=न किमपि कर्तुं क्षमत इति भावः। अत्र दृष्टान्तालङ्कारः, 'किं करोती' त्यादिना 'न किमपि कर्तुं क्षमते' इत्यर्थाक्षेपात् अर्थापत्तिरलङ्कारोऽपि॥

अन्वय.—जडेपु जातप्रतिभाभिमानाः खलाः कवीन्द्रोक्तिपु वराकाः के? प्राप्ताग्निनिर्वापणगर्वम् अम्बु रत्नाङ्कुरज्योतिपु किं करोति?

अनुवाद—जड़ लोगों के बीच जिनमें प्रतिभा का अभिमान उत्पन्न हो गया है वे दुष्ट (क्षुद्र कवि) कविश्रेष्ठों की उक्तियों के सम्मुख क्या ठहरेंगे बेचारे? अग्नि के बुझाने में गर्व को प्राप्त करनेवाला जल रत्न की अंकुर रूपी ज्योति में क्या करेगा?

भावार्थ—मूर्खों के बीच क्षुद्रकवि प्रतिभा का गर्व भले प्राप्त कर ले, किन्तु महान् कवियों के सम्मुख उनकी उक्तियाँ कहाँ ठहर पायेंगी ? ठीक वैसे ही जैसे आग को बुझानेवाला जल मणिदीप्ति को भला क्या करेगा ?

कोष:—'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारो मानश्चित्तसमुन्नतिः। दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेकः स्मयो मदः' इत्यमरः।

अलंकार—यहाँ पर दृष्टान्त अलङ्कार है तथा 'किं करोति' अंश में 'न किमपि कर्तुं शक्नोति' इस अर्थ का आक्षेप होता है, अतः अर्थापत्ति अलङ्कार है ॥ १८ ॥

'हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वे'ति कालिदासोक्तिमनुसृत्य सहृदयपरीक्षणीयत्वं प्रतिपादयति स्वकाव्यस्य—

उल्लेखलीलाघटनापटूनां, सचेतसां वैकटिकोपमानाम्।
विचारशाणोपलपट्टिकासु मत्सूक्तिरत्नान्यतिथीभवन्तु ॥ १९ ॥

उल्लेखेति—मत्सूक्तिरत्नानि = मम सूक्तयः काव्यभणितय एव रत्नानि मणयः। उल्लेखलीलाघटनापटूनाम् = उल्लेखस्य काव्यलेखनस्य वैकटिकपक्षे रत्नोत्कर्षणस्य या लीला क्रिया तस्या घटनायां सम्पादने पटूनाम् कुशलानाम्। वैकटिकोपमानाम् = वैकटिकानां रत्नपरीक्षकाणामुपमा सादृश्यं येषु, तेषाम् रत्नपरीक्षकतुल्यानामित्यर्थः। सचेतसाम् = सहृदयानाम्। विचारशाणोपलपट्टिकासु = विचाराः एव सदसद्विवेका एव शाणोपला मणिपरीक्षार्थं निकषपाषाणविशेषाः, तेषां पट्टिकासु। 'शाणस्तु निकषः कषः' इत्यमरः। अतिथीभवन्तु = परीक्षणाय समायान्तु। शाणोपलपट्टिकासूल्लखनेन मणिनिर्दोषतापरीक्षकाणामिव उत्तमकाव्यालोचनैकमतीनां सचेतसां विचारणाय अस्मत्काव्यं भवत्विति भावः। वैकटिकैः सह सचेतसां सादृश्यप्रतीत्योपमालङ्कारः। सूक्तिषु रत्नत्वारोपाद् विचारेषु शाणोपलपट्टिकारोपणाच्च रूपकम् ॥

अन्वयः—मत्सूक्तिरत्नानि उल्लेखलीलाघटनापटूनां वैकटिकोपमानां सचेतसां विचारशाणोपलपट्टिकासु अतिथीभवन्तु।

अनुवाद—मेरे सूक्ति रूपी रत्न, उल्लेख (रत्नघर्षण तथा सहृदय पक्ष में काव्यलेखन) की क्रिया के संयोजन में कुशल रत्नपरीक्षकों की तरह सहृदयों के विचाररूपी कसौटी के पत्थर पर (परीक्षा के लिये) अतिथि बनें।

भावार्थ—जिस प्रकार कसौटी के पत्थर पर घिसकर रत्न की निर्दोषता की परीक्षा होती है और सान पर चढ़कर ही रत्न सर्वथा भास्वर बनता है उसी प्रकार सहृदय आलोचकों के विचारपरीक्षण से मेरा काव्य न केवल निर्दुष्ट प्रमाणित हो, अपि तु उसका वैशिष्ट्य और भी प्रकाशित हो। कवि की रचना और आलोचक के काव्यालोचन की इसी प्रक्रिया को अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस प्रकार कहा—

"अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां, जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत्, सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते ॥"

कोष:—'शाणस्तु निकषः कषः' इत्यमरः।

अलंकार—'वैकटिकों' से सहृदयों की सादृश्यप्रतीति के कारण उपमा है तथा सूक्तियों पर 'रत्नत्व' का तथा विचारपर 'शाणोपलपट्टिका' का आरोप होने के कारण 'रूपक' अलंकार है ॥ १९ ॥

खलानां परगुणासहिष्णुत्वं वर्णयति—

न दुर्जनानामिह कोपि दोषस्तेषां स्वभावो हि गुणासहिष्णुः।
द्वेष्यैव केषामपि चन्द्रखण्डविपाण्डुरा पुण्ड्रकशर्करापि ॥ २० ॥

न दुर्जनानामिति—दुर्जनानाम्=खलानाम्। 'पिशुनो दुर्जनः खलः' इत्यमरः। इह=काव्यगुणास्वीकारे परेषां निन्दाकरणे च। कोऽपि=कश्चन। दोषः=अवगुणः। नास्ति=न विद्यते। हि=यस्मात्। तेषाम्=खलानाम्। स्वभावः=प्रकृतिरेव। गुणासहिष्णुः=गुणानां सद्गुणानामसहिष्णुरसहनशीलो भवतीत्यर्थः। ते हि स्वभावतो मात्सर्ययुक्ता भवन्तीति प्रकृतिस्तेषाम् दोषस्तु तदा स्वीक्रियेत यदि परगुणासहिष्णुत्वं तेषु विकृतितयावस्थितं भवेत्। विकृतिः कदापि दूरीभवति, प्रकृतिस्तु दुस्त्यजा। यथा माघकविनोक्तम्—'सतीव योषित् प्रकृतिश्च निश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपी'ति। केषामपि—केषाञ्चिज्जनानाम्। चन्द्रखण्डविपाण्डुरा=चन्द्रखण्ड इव सुधाकरकलेव विपाण्डुरा शुभ्रा। 'शुक्लशुभ्रशुचिश्वेतविशदश्येतपाण्डुराः' इत्यमरः। 'विशदः पाण्डुरे व्यक्ते' इति हैमः। 'हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः' इत्यमरः। पुण्ड्रकशर्करा=अतिरसस्येक्षोः शर्करा। 'पुण्ड्रेक्षौ पुण्ड्रकः सेव्यः पौण्ड्रकोऽतिरसो मधु'रिति वाचस्पतिः। 'रसाल इक्षुस्तद्भेदाः पुण्ड्रकान्तारकादयः' इत्यमरः। 'शर्करा खण्डविकृतौ कर्परांशे रुगन्तरे। उपलायां शर्करायुक्तदेशे शकलेऽपि च' इति हैमः। द्वेष्यैव=अरुचिकारिण्येव भवति। 'पित्तेन दूने रसने सितापि तिक्तायते हंसकुलावतंस' इति श्रीहर्षः। अत्र दृष्टान्तालङ्कारः॥

अन्वयः—दुर्जनानाम् इह कः अपि दोषः न। हि तेषां स्वभावः गुणासहिष्णुः। केषामपि चन्द्रखण्डविपाण्डुरा पुण्ड्रकशर्करा द्वेष्या एव।

अनुवाद—इसमें दुर्जनों का कोई दोष नहीं है, क्योंकि उनका स्वभाव ही गुणों के प्रति असहिष्णुता का होता है। चन्द्रकला की भाँति शुभ्र पौंढ़े से बनी शर्करा भी किन्हीं को रुचती नहीं है।

भावार्थ—दुर्जनों का यह स्वभाव ही होता है कि वे दूसरों के गुणों के प्रति आदर नहीं व्यक्त कर सकते। जब उनकी यह प्रकृति ही है, उनका क्या दोष? भङ्ग्यन्तर से दुर्जनों की घोर निन्दा है कि उनमें कभी भी सुधार होने की संभावना नहीं है, क्योंकि यदि विकृति होती तो दूर भी हो जाती, प्रकृति कैसे छुड़ायी जा सकेगी।

कोषः—'पिशुनो दुर्जनः खलः' इत्यमरः। 'शुक्लशुभ्रशुचिश्वेतविशदश्येतपाण्डराः' इत्यमरः। 'विशदः पाण्डुरे व्यक्ते' इति हेमः। 'हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः' इत्यमरः। 'रसाल इक्षुस्तद्भेदाः पुण्ड्रकान्तारकादयः।' इत्यमरः। 'पुण्ड्रेक्षौ पुण्ड्रके सेव्यः पौण्ड्रकोऽतिरसो मधु'रिति वाचस्पतिः। 'शर्करा खण्डविकृतौ कर्परांशे रुगन्तरे। उपलायां शर्करायुक्तदेशे शकलेऽपि च' इति हैमः।

अलंकार—यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ २० ॥

साम्प्रतं सारस्वतभूमिं कश्मीरदेशमहिमानं प्रकटयति—

सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः ।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः ॥ २१ ॥

सहोदरा इति—कविताविलासाः=कवितायाः सत्काव्यस्य विलासा विभ्रमाः । कुङ्कुमकेसराणाम्=कुङ्कुमस्य कश्मीरजन्मनोऽग्निशिखस्य केसराः किञ्जल्काः, तेषाम् । 'अथ कुङ्कुमम् । कश्मीरजन्माग्निशिखं वरं बाह्लीकपीतनम्' इत्यमरः । 'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । नूनम्=निश्चयेन । 'नूनमवश्यं निश्चये द्वयम्' इत्यमरः । सहोदराः=एकभूमिजत्वात्सोदर्याः । 'भ्राता तु स्यात्सहोदरः । समानोदर्यसोदर्यसगर्भ्यसहजा अपि सोदरश्चेति' नाममाला । भवन्ति =सन्ति । यत्=यस्मात् कारणात् । मया=कविना बिल्हणेन । तेषां=काव्यानां कुङ्कुमकेकेसराणां च । प्ररोहः=अङ्कुरः उद्गम इत्यर्थः । शारदादेशम्=शारदायाः सरस्वत्या आदेशः आज्ञा प्रसाद इति यावत् तम्, पक्षे शारदायाः सरस्वत्या देशः कश्मीरदेशः, तम् । अपास्य= विहाय । अन्यत्र=अपरस्मिन् देशे । न दृष्टः=नावलोकितः । यथा शारदादेशं विहायान्यत्र कुङ्कुमकेसरोद्गमो न भवति तथैव शारदाया आदेशमन्तरेण शारदाभूमिं काश्मीरं विहायान्यत्र कविताविलासोद्गमश्च न भवतीति । अत्रोत्प्रेक्षा श्लेषानुप्राणिता ॥

अन्वयः—कविताविलासाः कुङ्कुमकेसराणां नूनं सहोदरा भवन्ति । यत् मया तेषां प्ररोहः शारदादेशम् अपास्य अन्यत्र न दृष्टः ।

अनुवाद—कविता के विलास निश्चय ही केसरकिंजल्क के बन्धु होते हैं, क्योंकि मैंने उनके अङ्कुरण शारदादेश (शारदा के आदेश, पक्षान्तर में काश्मीरदेश) के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं देखे ।

भावार्थ—यह काश्मीर की भूमि ही है, जहाँ केसर भी अङ्कुरित होती है और कविता विलास भी । तभी तो वह अन्वर्थ शारदादेश है ॥ २१ ॥

कोषः—'अथ कुङ्कुमम् । कश्मीरजन्माग्निशिखं वरं वाह्लीकपीतने' इत्यमरः । 'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'भ्राता तु स्यात् सहोदरः । समानोदर्यसोदर्यसगर्भ्यसहजा अपि, । सोदरश्चे' ति नाममाला ।

अलंकारः—कविताविलास' में 'कुङ्कुमकेसरसहोदरत्व' की संभावना होने से उत्प्रेक्षा अलङ्कार है, 'शारदादेश' में श्लेष स्फुट ही है ॥ २१ ॥

ये ध्वनिमार्गाध्वनीनाः सहृदया त एवाधिकारिण इति ब्रूते—

रसध्वनेरध्वनि ये चरन्ति, सङ्क्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः ।
तेऽस्मत्प्रबन्धानवधारयन्तु कुर्वन्तु शेषाः शुकवाक्यपाठम् ॥ २२ ॥

रसध्वनेरिति—सङ्क्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः=सङ्क्रान्ताः सङ्गताः वक्रोक्तीनां वक्रभणितीनां रहस्यस्य तत्त्वस्य मुद्राभिनिवेशः येषु ते । ये=सचेतसः काव्यरसिकाः । रसध्वनेः= काव्यात्मभूतवस्त्वलङ्काररसादिध्वनीनामन्यतमस्य ब्रह्मास्वादमिवानुभावयतोऽलौकिकचमत्कार-

कारिणो रसस्य। अध्वनि = मार्गे। 'अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः। सरणिः पद्धतिः पद्या वर्तन्येकपदीति च' इत्यमरः। चरन्ति = विचरन्ति। वक्रोक्तिमर्मवेत्तारो रसध्वनिस्वरूपवेदिनो ये भवन्ति। ते = सहृदयाः। अस्मत्प्रबन्धान् = मदीयकविताः। अवधारयन्तु = सम्यक्तयावगच्छन्तु। शेषाः = रसमार्गरहस्यमजानन्तोऽन्ये। शुकवाक्यपाठम् = शुकवत्तदर्थावगममन्तरैव वाक्यपाठं शब्दोच्चारणमात्रं कुर्वन्तु, तैः ध्वनिमार्गाननाकलयद्भिर्वक्रोक्तिरहस्यावबोधशून्यैः अर्थग्रहणाभावात् काव्यास्वादस्य प्राप्तिर्न करिष्यत इति भावः॥

अन्वयः—सङ्क्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः ये रसध्वनेः अध्वनि चरन्ति ते अस्मत्प्रबन्धान् अवधारयन्तु। शेषाः शुकवाक्यपाठं कुर्वन्तु।

अनुवाद—वक्रोक्ति के मर्म को समझने वाले जो लोग रसध्वनि के मार्ग का अवलम्बन करते हैं, वे हमारे काव्यों को समझें, शेष तो शुक की भाँति शब्द का पारायणमात्र करें।

भावार्थः—हमारे काव्य का मर्म वही समझ सकेंगे, जो वक्रोक्ति के मर्म को जानते हैं और रसास्वादन की सरणि से परिचित हैं, शेष तो इसका पारायणमात्र करेंगे, इसका वास्तविक आनन्द प्राप्त न कर सकेंगे।

कोषः—'अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः। सरणिः पद्धतिः पद्या वर्तन्येकपदीति च' इत्यमरः।

अलङ्कारः—'शुकवाक्यपाठम्' में उपमा अलङ्कार है॥ २२॥

विशिष्टकाव्यानां रहस्यवेत्तारोऽपि न बहवः—

अनन्यसामान्यगुणत्वमेव, भवत्यनर्थाय महाकवीनाम्।
ज्ञातुं यदेषां सुलभाः सभासु न जल्पमल्पप्रतिभाः क्षमन्ते॥ २१॥

अनन्येति—महाकवीनाम् = कविश्रेष्ठानाम्। अनन्यसामान्यगुणत्वम् एव = अन्येषु कविषु यत् सामान्यं साधारणं तदन्यसामान्यम्, नास्त्यन्यसामान्यमनन्यसामान्यम्, अनन्यसामान्यं च तद्गुणत्वं वैशिष्ट्यं च अनन्यसामान्यगुणत्वम्, तदेव। अनर्थाय = अनिष्टजननाय। भवति = जायते। महाकविकाव्यार्थावगमः आनन्दप्राप्तिश्च सकलसामान्यकविजनसाधारणगुणवेदिभिः सामान्यैर्जनैर्न क्रियते। यत् = यस्मात्। सभासु = काव्यगोष्ठीषु। सुलभाः = सुखेन लभ्याः प्राप्याः स्वत एव समायाताः। प्रतिभाजुषः काव्यार्थवेत्तारस्तु दुर्लभाः सभासु भाग्येनैव लभ्यन्त इत्याशयः। अल्पप्रतिभाः = मन्दप्रज्ञाः। एषाम् = महाकवीनाम्। जल्पम् = वचः। ज्ञातुम् = अवबोद्धुम्। न क्षमन्ते = समर्था न भवन्ति। सर्वत्र सुलभानां बहुसङ्ख्याकानामल्पप्रतिभाजुषां श्रोतॄणां ज्ञानायानन्ददानाय च महाकविभणितयो न भवन्तीति दोषः महाकविवचसां, किं करवाणि? अत्र व्याजस्तुतिरलङ्कारः। तल्लक्षणं च 'व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथे'ति॥

अन्वयः—महाकवीनाम् अनन्यसामान्यगुणत्वम् एव अनर्थाय भवति, यत् सभासु सुलभाः अल्पप्रतिभाः एषां जल्पं ज्ञातुं न क्षमन्ते।

अनुवाद—महाकवियों का सामान्य (कवियों) में असुलभ विशिष्ट गुण ही अनर्थकारी होता है, क्योंकि सभाओं में सुलभ अल्पप्रतिभ इनकी वाणी समझ नहीं पाते।

भावार्थ—महाकवियों में कुछ विशिष्ट गुण होते हैं, और ये गुण सामान्य अल्पप्रतिभा-वाले श्रोताओं की पकड़ में नहीं आते। महाकवियों का दोष यही है कि उनकी रचनाओं में इन विशिष्ट गुणों का आधान रहता है। विशिष्टता यदि दोष होती हो, तो यह भी दोष होगा।

अलंकार—इस श्लोक में निन्दामुखेन महाकवियों की प्रशंसा की गयी है, अतः व्याज-स्तुति अलङ्कार है ॥ २३ ॥

सुपरीक्षितमिदं काव्यं जनस्य कण्ठ-भूषणं भवत्विति समाकाङ्क्षते—

अलौकिकोल्लेखसमर्पणेन, विदग्धचेतःकषपट्टिकासु।
परीक्षितं काव्यसुवर्णमेतल्लोकस्य कण्ठाभरणत्वमेतु ॥ २४ ॥

विदग्धेति—विदग्धचेतःकषपट्टिकासु = कषाणां निकषाणां पट्टिकाः कषपट्टिकाः, विदग्धानां विदुषां चेतांसि हृदयान्येव कषपट्टिकास्तासु। 'शाणस्तु निकषः कषः' इत्यमरः। अलौकिकोल्लेखसमर्पणेन = अलौकिकाः अलोकसामान्याः ये उल्लेखाश्चमत्काराः। पक्षे विशुद्धता-सूचकम् उत्कर्षणम्, तेषां समर्पणेन प्रदानेन। परीक्षितम् = गुणदोषपरीक्षया संलक्षितम्। एतत् काव्यसुवर्णम् = काव्यमेव सुवर्णं काञ्चनम्। लोकस्य = जनस्य। कण्ठाभरणत्वम् = कण्ठालङ्कारत्वम् एतु = प्राप्नोतु। यथा शाणोल्लिखितं परीक्षितं शुद्धं काञ्चनं जनस्य कण्ठस्थं सद्भूषणतामावहति तथैव विद्वज्जनमनश्चमत्कारकरणेन सुपरीक्षितमिदं काव्यं जनस्य कण्ठस्थं सद्भूषणत्वमेत्विति भावः। काव्ये सुवर्णाभेदारोपस्य विदग्धचेतःसु कषपट्टिकारोपे कारणत्वात् परम्परितरूपकम्। तल्लक्षणं च—'यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम्। तत्परम्परितम्' इति ॥

अन्वयः—विदग्धचेतःकषपट्टिकासु अलौकिकोल्लेखसमर्पणेन परीक्षितमेतत् काव्यसुवर्णं लोकस्य कण्ठाभरणत्वम् एतु।

अनुवाद—विद्वानों की चित्तरूपी कसौटी पर लोकोत्तर उल्लेख दान से परीक्षित यह काव्यरूपी सुवर्ण लोक का कण्ठाभरण बने।

भावार्थ—जैसे कसौटी पर उल्लिखित हो जाने पर अर्थात् कस दिये जाने पर सोने की विशुद्धि का पता चल जाता है और वह लोगों के कण्ठाभरण के पद को प्राप्त करता है, उसी प्रकार विदग्धजन के हृदय पर उल्लिखित अर्थात् अपने चमत्कार से उट्टङ्कित होकर परीक्षित काव्य लोगों के कण्ठों में बसकर कण्ठ का भूषण बन जाये।

कोषः—'शाणस्तु निकषः कषः' इत्यमरः।

अलंकार—यहाँ काव्य में सुवर्ण से अभेद का आरोप विदग्धचित्त पर 'कषपट्टिकात्व' के आरोप का कारण है, अतः परम्परित रूपक अलंकार है ॥ २४ ॥

राजभिः कवीनां सङ्ग्रहः कार्यस्तथापि कुनृपतयः कविसङ्ग्रहेण किं करिष्यन्ति—

किं चारुचारित्रविलासशून्याः कुर्वन्ति भूपाः कविसङ्ग्रहेण।
किं जातु गुञ्जाफलभूषणानां, सुवर्णकारेण वनेचराणाम् ॥ २५ ॥

किमिति—चारुचारित्रविलासशून्याः = चारु शोभनं चारित्रं चरितं तस्य विलासः लीलोत्कर्ष इति यावत्, तेन शून्या हीनाः, स्वीयसुचरितेन महाकविवाचं प्रेरयितुमसमर्था हीनचरिता। भूपाः = राजानः। कविसङ्ग्रहेण = कवीनां सङ्ग्रहेण स्वीयसभासु समाश्रयदानेन। किं कुर्वन्ति = न किमपि कर्तुं शक्नुवन्ति। गुञ्जाफलभूषणानाम् = गुञ्जाफलं काकचिञ्चाफलमेव भूषणमलङ्कारो येषां तेषाम्। वनेचराणां = वनवासिनाम्। सुवर्णकारेण = स्वर्णालङ्काररचयित्रा। जातु = कदाचिदपि। किम् = किम्प्रयोजनं सिद्धयति। गुञ्जाफलदत्तादराः वनेचरा स्वर्णालङ्कारनिर्मात्रा न किमपि, कुर्वन्ति। सच्चरित्रग्रथनैकपरायणा महाकवयः हीनचरितस्य राज्ञः कमभिलाषं सफलीकरिष्यन्ति ? अत एव न तेषां कुनृपतीनां महाकविसङ्ग्रहे प्रवृत्तिर्भवतीति भावः। अत्र दृष्टान्तालङ्कारः॥

अन्वयः—चारुचारित्रविलासशून्याः भूपाः कविसङ्ग्रहेण किं कुर्वन्ति। गुञ्जाफलभूषणानां वनेचराणां सुवर्णकारेण जातु किम्।

अनुवाद—सुन्दर चरित्र के विलास से शून्य राजा कवियों का संग्रह करके क्या करेंगे। घुमची (गुञ्जाफल) के आभूषण बनाने वाले जंगलियों का स्वर्णकार से कभी भी क्या प्रयोजन ?

भावार्थ—जिस प्रकार जंगलियों को घुमची के आभूषण ही प्रिय होते हैं, उन्हें स्वर्ण और स्वर्णकार में क्या रुचि हो सकती हैं, उसी प्रकार हीनचरित राजाओं को कवियों से क्या प्रयोजन हो सकता है। न तो उनका चरित कवियों को प्रेरित कर सकता है और न वे महाकवियों की वाणी में अमर होने का आस्वाद ही समझ सकते हैं।

कोषः—'काकचिञ्चागुञ्जे तु कृष्णला' इत्यमरः।

अलङ्कार—इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार है॥ २५॥

कवीनां माहात्म्यमुपवर्णयति—

पृथ्वीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि।
भूपाः कियन्तो न बभूवुरुर्व्यां जानाति नामापि न कोऽपि तेषाम्॥ २६॥

पृथ्वीपतेरिति—यस्य पृथ्वीपतेः = यस्य भूपतेः। पार्श्वे = सन्निधौ। कवीश्वराः = कविश्रेष्ठाः। न सन्ति = न शोभन्ते। तस्य-शूरस्यापि राज्ञो यशांसि = कीर्तयः कुतः ? "यशः कीर्तिः समज्ञा च स्तवस्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः' इत्यमरः। उर्व्यां = विशालायां भूमौ। कियन्तः = कियत्संख्याकाः। भूपाः = नृपाः। न बभूवुः = नोत्पन्नाः, अपरिसंख्येया एव समुत्पन्ना इत्यर्थः। कोऽपि = कश्चिदपि। तेषां = पुराजातानां राज्ञाम्। नामापि न जानाति = नाममात्रेणापि तान् न जानाति। अतः यशःप्रियेण राज्ञा महाकवयः संग्राह्याः। कवय एव राजानं कीर्त्यापकीर्त्या वा योजयन्ति इति भावः॥

अन्वयः—यस्य पृथ्वीपतेः पार्श्वे कवीश्वराः न सन्ति (तस्य) यशांसि कुतः, उर्व्यां कियन्तो भूपाः न बभूवुः, कोऽपि तेषां नामापि न जानाति।

अनुवाद—जिस राजा के पास महाकवि नहीं होवे, उस राजा की कीर्ति कैसे हो सकती है ? इस पृथ्वीपर कितने ही राजा हुए परन्तु उनका नाम भी कोई नहीं जानता॥

भावार्थ—बहुत समय तक यशस्वी होने के लिए कवि-संग्रह अवश्य करना चाहिये। इसलिये राजाओं को चाहिए कि वे मुझ जैसे कवियों को सादर अपने दरबार में स्थान दें।

कोष:—'यशः कीर्तिः समज्ञा च स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः' इत्यमरः।

अलङ्कार—यहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार है ॥ २६ ॥

पुनरपि तदेव द्रढयति—

लंकापतेः सङ्कुचितं यशो यद् यत् कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो, न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः ॥ २७ ॥

लङ्कापतेरिति—यत्=यदिति वाक्यार्थपरामर्शकं। लंकापतेः=रावणस्य। यशः=कीर्तिः। 'यशः कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः। सङ्कुचितम्=क्षीणम्। यत् कीर्तिपात्रं=कीर्तिभाजनम्। रघुराजपुत्रः=राघवो रामः। स सर्वः। आदिकवेः=वाल्मीकेरेव। प्रभावः=माहात्म्यम्। क्षितीन्द्रैः=नरेन्द्रैः। कवयः=काव्यकर्त्तारः न कोपनीयाः न क्रोधनीयाः; आदरणीया इत्यर्थः। त एव प्रसन्ना राजानं यशःशरीरेण योजयित्वा अक्षय्यं माहात्म्यं प्रयच्छन्ति, कुपिताश्च सर्वथा तं निन्दास्पदमेव कुर्वन्ति ॥

अन्वयः—यत् लंकापतेः यशः सङ्कुचितं, यत्, कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः (अस्ति) सः सर्वः आदिकवेः एव प्रभावः, क्षितीन्द्रैः कवयः न कोपनीयाः।

अनुवाद—लंकापति रावण का यश संकुचित हो गया, और राम यश के पात्र हो गये, वह सब आदिकवि वाल्मीकि का ही प्रभाव है, अतः राजा लोग कवियों को कदापि कुपित न करें।

भावार्थ—कवियों को रुष्ट करना बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं है। उनकी बलवती वाणी में यह प्रभाव है कि वे युग-युग के लिये स्मरणीय या निन्द्य बना सकते हैं।

कोष:—'यशः कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः।

अलङ्कार—अर्थान्तरन्यास या काव्यलिङ्ग अलंकार है ॥ २७ ॥

गिरां प्रवृत्तिर्मम नीरसापि, मान्या भवित्री नृपतेश्चरित्रैः।
के वा न शुष्कां मृदमभ्रसिन्धुसम्बन्धिनीं मूर्धनि धारयन्ति ॥ २८ ॥

गिरामिति—मम=कवेर्बिल्हणस्य। नीरसा=रसहीनाऽपि, निर्गतः रसो यस्याः सा। गिरां=वाचाम्। प्रवृत्तिः=व्यापारः। नृपतेः=राज्ञो विक्रमाङ्कदेवस्य। चरित्रैः=चरितैः, चर-धातोः 'अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः' इति 'इत्र' प्रत्ययः। मान्या=सत्कारार्हा। 'मन' धातोः 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत्, 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धिः। भवित्री=भाविनी। भू धातोस्ताच्छील्यार्थे 'तृन्' प्रत्ययः 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप्। 'भूष्णुर्भविष्णुर्भविता' इत्यमरः। के वा=सर्वे इत्यर्थः। अभ्रसिन्धुसम्बन्धिनीम्=गाङ्गाम्, सुरसरितः संबन्धिनीमित्यर्थः। शुष्कां=नीरसाम्, 'शुष्' धातोः निष्ठेति 'क्त' प्रत्ययस्य। स्थाने 'शुषः कः' इति 'क' आदेशः। मृदं=मृत्तिकाम्। मूर्ध्नि=

मरतके न धारयन्ति = न वहन्ति ? अत्र प्रतिवस्तूपमालंकारः । तल्लक्षणम्–'प्रतिवस्तूपमा तु सा । सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः' इति ॥

अन्वयः—मम नीरसापि गिरां प्रवृत्तिः नृपतेः चरित्रैः मान्या भवित्री । के वा अभ्रसिन्धु-सम्बन्धिनीं शुष्कां मृदं मूर्ध्नि न धारयन्ति ।

अनुवाद—मेरी नीरस भी वाणी की प्रवृत्ति राजा के चरित्रों से (अवश्य) मान्य होगी । कौन ऐसा है जो, गंगा की शुष्क मृत्तिका को भी मस्तक पर धारण नहीं करता ।

भावार्थ—मेरा यह काव्य गुणहीन होने पर भी वर्ण्य राजचरित्र से लोगों के आदर का विषय बनेगा ।

कोषः—'भूष्णुर्भविष्णुर्भविता' इत्यमरः ।

अलङ्कार—प्रतिवस्तूपमा अलंकार है ॥ २८ ॥

खलानां तु दोषदृष्टिपरं मनो दोषाविष्करणायैव यतत इति वर्णयति—

कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान् खलानाम् ।
निरीक्षते केलिवनं प्रविश्य क्रमेलकः कण्टकजालमेव ॥ २९ ॥

कर्णामृतमिति—कर्णामृतं = श्रवणयोः अमृतवदानन्ददायि । सूक्तिरसं = सुकवितारसं । विमुच्य = विहाय । खलानां = क्षुद्राणां । दोषे = दोषस्यैवान्वेषणे । सुमहान् = अत्यन्तः । प्रयत्नः = प्रयासः भवति । क्रमेलकः = उष्ट्रः । केलिवनम् = प्रमदाक्रीडोद्यानम् । प्रविश्य = गत्वापि । कण्टकजालमेव = कण्टकप्रचुरवृक्षसमूहं, निरीक्षते = विलोकयति । दृष्टान्तालङ्कारः ॥

अन्वयः—कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य खलानां दोषे सुमहान् प्रयत्नः । क्रमेलकः केलिवनं प्रविश्य कण्टकजालमेव निरीक्षते ।

अनुवाद—कर्णामृतरूप सूक्ति रस को छोड़, दोष ढूँढने में ही दुष्टों का प्रयत्न हुआ करता है । ऊँट केलिवन में जाकर भी काँटों को ही ढूंढता है ।

भावार्थः—कानों के लिए सुनते ही अमृत सा प्रतीत होने वाले सत्काव्य में भी दोष निकालने में ही दुष्टजनों की कोशिश रहती है । उनकी रुचि ही दोष में होती है और सभी अपनी रुचि की वस्तु ढूँढता है । अतः यह खल के लिये स्वभावसिद्ध है ।

कोषः—'पिशुनो दुर्जनः खलः' इत्यमरः ।

अलंकार—इस श्लोक में दृष्टान्तालङ्कार है ॥ २९ ॥

सहृदयेभ्यः काव्यमर्मवेदिभ्यः समर्पयति कविः स्वकाव्यम्—

एषास्तु चालुक्यनरेन्द्रवंशसमुद्गतानां गुणमौक्तिकानाम् ।
मद्भारतीसूत्रनिवेशितानाम्, एकावली कण्ठविभूषणं वः ॥ ३० ॥

एषेति—चालुक्यनरेन्द्रसमुद्गतानाम् = चालुक्यनरेन्द्रस्य वंशात् कुलात्, समुद्गतानां समुत्पन्नानाम् । 'वंशः कुलं वेणुश्चेति' । 'शुक्तिः शंखो गजः क्रोडः फणी मत्स्यश्च दर्दुरः । वेणुश्चाष्टौ समाख्याता बुधैर्मौक्तिकयोनयः' । इति । अतएव चालुक्यवंशसमुद्गतानां मौक्तिकानां वर्णने

प्रयुक्तः श्लेषः सङ्गच्छते । गुणमौक्तिकानां = मुक्ता एव मौक्तिकानि, मुक्ताशब्दात् 'विनयादिभ्यष्ठक्' इति 'ठक्' प्रत्ययः 'किति च' इति वृद्धिः । मद्भारतीसूत्रनिवेशितानाम् = मम-विल्हणस्य कवेः भारती वाणी, मद्भारती 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्चेति' अस्मच्छब्दस्य मपर्यन्तस्यैकार्थवाचिनो 'म' आदेशः, सैव सूत्रं तत्र निवेशितानां गुम्फितानाम् । एषा = बुद्धिस्थेति यावत् । एकावली = हारः । वः = युष्माकं सहृदयानाम् । कण्ठभूषणं = कण्ठालङ्कारः । अस्तु = भूयात् । अत्र गुणेषु मौक्तिकारोपे वंशे वेणुत्वारोपस्य हेतुत्वात् परम्परितं रूपकम् । वाक्यावल्यामेकावल्यारोपे भारत्यां सूत्रत्वारोपस्य कारणत्वाच्च परम्परितं रूपकम् । यथाह मम्मटः—'नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः । तत् परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा' ॥

अन्वयः—चालुक्यनरेन्द्रवंशसमुद्गतानां गुणमौक्तिकानां मद्भारतीसूत्रनिवेशितानाम् एषा एकावली वः कण्ठविभूषणम् अस्तु ।

अनुवाद—चालुक्य राज के वंश में उत्पन्न हुए गुणरूपी मोतियों की एकावली, जो मेरी वाणीरूपी सूत्र में गुँथी हुई है, वह आप (सहृदयों) के कण्ठ के लिए आभूषण बनें ।

भावार्थ—चालुक्य कुल में उत्पन्न राजाओं के गुण रूपी मोतियों की मेरी कविता के धागे में पिरोई हुई यह एकावली गुणग्राही सहृदयवृन्द के गले में हार की तरह शोभित होती रहे ।

कोषः—'वंशे त्वक्सारकर्मारत्वचिसारतृणध्वजाः । शतपर्वा यवफलो वेणुमस्करतेजनाः' इत्यमरः ।

अलंकार—यहाँ परम्परित रूपक अलङ्कार है ॥ ३० ॥

परमेष्ठी ब्रह्मापि कविरेवेति वर्णयति—

> लोकेषु सप्तस्वपि विश्रुतोऽसौ, सरस्वतीविभ्रमभूः स्वयंभूः ।
> चत्वारि काव्यानि चतुर्मुखस्य, यस्य प्रसिद्धाः श्रुतयश्चतस्रः ॥ ३१ ॥

लोकेष्विति—असौ = अयं प्रसिद्धः । सप्तसु अपि = मुनिसंख्याकेषु अपि । लोकेषु = भूरादिलोकेषु । विश्रुतः = प्रसिद्धः, विपूर्वकात् श्रु श्रवणे धातोः क्तप्रत्ययः । 'प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः' इत्यमरः । सरस्वतीविभ्रमभूः = सरस्वतीविलासस्थानम् । स्वयंभूः = ब्रह्मा स्वयमात्मना भवतीति । 'भुवः संज्ञान्तरयोः' इति भूधातोः क्विप्प्रत्ययः । यस्य चतुर्मुखस्य = चत्वारि चतुःसंख्याकानि मुखानि यस्येति बहुव्रीहिः ब्रह्मणः आदिकवेरित्यर्थः । चत्वारि काव्यानि = काव्यमयरचनाः । चतस्रः = चतुःसंख्याकाः । श्रुतयः = ऋगादयो वेदाः । प्रसिद्धाः = विदिताः सन्ति । वेधसः काव्यानि श्रुतयः सन्ति । वयं कवयः, स च कविकुलोपदेष्टेति सम्बन्धः ॥

अन्वयः—असौ सप्तसु अपि लोकेषु विश्रुतः सरस्वतीविभ्रमभूः स्वयम्भूः अस्ति, यस्य चतुर्मुखस्य चत्वारि काव्यानि चतस्रः श्रुतयः प्रसिद्धाः सन्ति ।

अनुवाद—सातों लोकों में प्रसिद्ध सरस्वती के विलास का स्थान यह ब्रह्म हैं । चार काव्य चार वेदों के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

भावार्थ—सातों लोकों में प्रसिद्ध सरस्वती के आश्रयभूत ब्रह्मा भी कवि थे और वेद ही उनका पद्यात्मक काव्य है।

कोष:—'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः ॥ ३१ ॥

ब्रह्मणः सेवायाः फलातिशयं वर्णयति—

एकस्य सेवातिशयेन शङ्के, पङ्केरुहस्यासनतां गतस्य।
आराधितो यः सकलं कुटुम्बं, चकार लक्ष्मीपदमम्बुजानाम् ॥ ३२ ॥

एकस्येति—आसनताम्=आसनस्य भावः, आसनता ताम् 'तस्य भावस्त्वतलौ' इति 'तल्' प्रत्ययः, स्त्रियाम् टाप्, आसनतां विष्टरत्वम्। गतस्य=प्राप्तस्य। एकस्य पङ्केरुहस्य=कमलस्य, पङ्के रोहतीति रुह प्रादुर्भावे, तत 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः, 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक्। 'पङ्केरुहं तामरसमि'त्यमरः। सेवातिशयेन=सेवाया अतिशयस्तेन—सेवातिशयेन-सेवाधिक्येन। आराधितः=सेवितः। चतुर्मुखः। अम्बुजानाम्=अम्बुनि जातानि अम्बुजातानि तेषाम् अम्बुजानां, कमलानाम्। 'जनी' प्रादुर्भावे 'सप्तम्यां जनेर्डः' इति डप्रत्ययः, उपपदसमासः, 'तत्पुरुषे कृतिबहुलमि'त्यलुगभावपक्षे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सप्तम्या लुक्। सकलं=निखिलं। कुटुम्बं=परिवारं। लक्ष्मीपदं=लक्ष्म्याः पदं लक्ष्मीपदं लक्ष्म्याश्रयं शोभाश्रयमिति यावत्। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। चकार=विदधे। इति=एवं शङ्के इत्युत्प्रेक्षायाम् ॥

अन्वयः—आसनतां गतस्य एकस्य पङ्केरुहस्य सेवातिशयेन आराधितः यः अम्बुजानां सकलं कुटुम्बं लक्ष्मीपदं चकार (इति) शङ्के।

अनुवाद—एक कमल के द्वारा आसन बनकर जो सेवा की मानो उसी के कारण कमल की पूरी जाति को ही जिस (ब्रह्मा) ने लक्ष्मी का आश्रयस्थान बना दिया।

भावार्थ—एक कमल ने आराधना की, उसने भगवान् चतुर्मुख का आसन बनकर उनकी अत्यधिक सेवा की। इसीसे ब्रह्मा जी प्रसन्न हो गये और उन्होंने कमलजाति को ही लक्ष्मी और शोभा का स्थान बना दिया।

कोष:—'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः।

अलंकार—इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार स्पष्ट है ॥ ३२ ॥

ब्रह्मणो माहात्म्यवर्णनमुपस्थाप्य सम्प्रति काव्यवस्तूपस्थापनभूमिकां विरचयति—

ब्रह्मर्षिभिर्ब्रह्ममयीममुष्य सार्धं कथां वर्धयतः कदाचित्।
त्रैलोक्यबन्धोः सुरसिन्धुतीरे, प्रत्यूषसन्ध्यासमयो बभूव ॥ ३३ ॥

ब्रह्मर्षिभिरिति—कदाचित्=कस्मिंश्चित्काले। सुरसिन्धुतीरे=सुराणां—देवानां सिन्धुर्नदी, तस्यास्तीरे सुरसिन्धुतीरे, देवनद्याः कूले। ब्रह्मर्षिभिः=मरीच्यादिभिर्मुनिश्रेष्ठैः। सार्धं=सह। ब्रह्ममयीं=मन्त्रमयीं, ब्रह्मसम्बन्धिनीं वा। कथां=चर्चामित्यर्थः। 'कथ वाक्यप्रबन्धे' तस्मात् 'चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चश्च' इत्यङ्। वर्धयतः=कुर्वतः। अमुष्य त्रैलोक्यबन्धोः=

त्रिभुवनहितपरस्य ब्रह्मणः । प्रत्यूषसन्ध्यासमयः = प्रातःसन्ध्यावन्दनकालः । बभूव = जातः ॥

अन्वयः – कदाचित् सुरसिन्धुतीरे ब्रह्मर्षिभिः सार्धं ब्रह्ममयीं कथां वर्धयतः अमुष्य त्रैलोक्यबन्धोः प्रत्यूषसन्ध्यासमयः बभूव ।

अनुवाद—किसी समय गंगा जी के किनारे मरीचि आदि ब्रह्मर्षियों के साथ परब्रह्म के विषय में चर्चा करते हुए इस त्रिलोकी के बन्धु ब्रह्मदेव को प्रातःकालिक सन्ध्यावन्दन का समय हो गया ।

भावार्थ—ब्रह्मा की ब्रह्मवेत्ता ऋषियों के साथ ब्रह्म सम्बन्धिनी ऐसी चर्चा छिड़ी कि सायंकाल को चर्चा आरम्भ हुई और सारी रात बीत गई, सवेरा हो गया ।

कोषः—'मन्दाकिनी वियद्गङ्गा स्वर्नदी सुरदीर्घिका' इत्यमरः ।

अलंकार—इस श्लोक में छेकानुप्रास अलङ्कार है ॥ ३३ ॥

प्रभातकालवर्णनमेवारभते— –

मृणालसूत्रं निजवल्लभायाः, समुत्सुकश्चाटुषु चक्रवाकः ।
अन्योन्यविश्लेषणयन्त्रसूत्रभ्रान्त्येव चञ्चुस्थितमाचकर्ष ॥ ३४ ॥

मृणालेति—चाटुषु = अनुनयवचनेषु । समुत्सुकः = उत्कण्ठितः । चक्रवाकः = कोकः । 'कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथांगाह्वयनामकः' इत्यमरः । निजवल्लभायाः = निजस्य वल्लभायाश्चक्रवाक्याः । चञ्चुस्थितं = चञ्चुपुटस्थितम् । मृणालसूत्रं = बिसतन्तुम् । अन्योन्यविश्लेषणयन्त्रसूत्रभ्रान्त्येव = अन्योन्यस्य परस्परस्य, विश्लेषणं वियोगः तस्य यन्त्रं वियोगजनकयन्त्रं, तस्य सूत्रस्य अन्योन्यविश्लेषणसूत्रस्य, भ्रान्त्येव भ्रमेणेव । आचकर्ष = आकृष्टवान् । अत्र चक्रवाककर्तृकचञ्चुस्थितमृणालसूत्राकर्षणे मृणालसूत्रे अन्योन्यविश्लेषणयन्त्रसूत्रस्य भ्रान्तेर्हेतुत्वेन संभावनाप्रतिपादनाद् उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥

अन्वयः—चाटुषु समुत्सुकः चक्रवाकः निजवल्लभायाः चञ्चुस्थितं मृणालसूत्रं अन्योन्यविश्लेषणयन्त्रसूत्रभ्रान्त्या इव आचकर्ष ।

अनुवाद—(प्रातः मनाने के लिए) चाटु वचन के समुत्सुक चकवे ने अपनी प्रिया चकवी के चोंच से बिसतन्तु को मानो परस्पर वियोग करा देने वाले यन्त्र के सूत्र के भ्रम से खींच लिया ।

भावार्थ—चक्रवाक कमल नालों को तोड़-तोड़ कर अपनी चक्रवाकी को प्रातः खिलाने लगा । वह उसको मना रहा था । निशा में चक्रवाकी उससे अलग हो गयी थी । अतः मनाने के लिए मुख में दिये मृणाल को वह भी एक तरफ से पकड़ कर उसके मुख से खींच रहा था। इस प्रकार दोनों क्रीडा-कौतुक कर रहे थे । चक्रवाक ने चक्रवाकी के मुख से कमलनाल निकाल लिया । मानों उसे उसकी प्रेयसी से वियुक्त करने वाला सूत्र मिल गया जिसे वह खींच कर दूर फेंक रहा था, जिससे भविष्य में वियोग न हो सके ।

कोषः—'कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथांगाह्वयनामकः' इत्यमरः।

अलंकार—यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ३४ ॥

आरक्तरविबिम्बवर्णनं प्रस्तौति—

आरक्तमर्घार्पणतत्पराणाम् सिद्धाङ्गनानामिव कुङ्कुमेन ।
बिम्बं दधे बिम्बफलप्रतिष्ठां, राजीविनीजीवितवल्लभस्य ॥ ३५ ॥

आरक्तमिति—अर्घार्पणतत्पराणाम् = अर्घस्य अर्पणं समर्पणं तत्र तत्परास्तासाम् अर्घार्पण-तत्पराणाम् अर्घसमर्पणोत्सुकानाम् । सिद्धाङ्गनानां = देवयोनिविशेषाङ्गनानाम् । कुङ्कुमेनेव = अग्निशिखेनेव । 'अथ कुङ्कुमम् । काश्मीरजन्माग्निशिखं वरं बाह्लीकपीतनम्' इत्यमरः । आरक्तं = रक्तवर्णम् । राजीविनीजीवितवल्लभस्य = राजीविनीनां कमलिनीनां वल्लभस्य प्रियस्य बिम्बं मण्डलं । बिम्बफलप्रतिष्ठाम् = रक्तवर्णतिन्दुरीफलसाम्यं । दधे = धारयामास । अत्र प्रातःकालिकरविबिम्बस्य बिम्बफलस्य च सादृश्यदर्शनादुपमा । सूर्यं बिम्बस्य रक्तत्वे कुंकुमस्य कारणत्वेन संभावनात् हेतूत्प्रेक्षा ॥

अन्वयः—अर्घार्पणतत्पराणां सिद्धाङ्गनानां कुङ्कुमेन इव आरक्तं राजीविनीजीवितवल्लभस्य बिम्बं बिम्बफलप्रतिष्ठां दधे ।

अनुवाद—(सूर्य के लिए) अर्घ (जलाञ्जलि) समर्पण में तत्पर सिद्धाङ्गनाओं के कुंकुम से ही मानो रक्तवर्ण को प्राप्त हुए सूर्यमण्डल ने बिम्बफल की स्थिति को धारण किया ।

भावार्थ—रविबिम्ब की अरुणता कुंकुम की अरुणता के सदृश थी । कवि कल्पना करता है कि सिद्धाङ्गनाओं ने जो अर्घ्य दिये, उनमें सिद्धाङ्गनाओं द्वारा प्रयुक्त कुंकुम भी मिल गया था । उसी कुंकुम राग को धारणकर रवि भी अरुण हो उठा ।

कोषः—'अथ कुंकुमम् । काश्मीरजन्माग्निशिखं वरं बाह्लीकपीतनम्' इत्यमरः ।

अलंकार—यहाँ प्रातःकाल के सूर्य की बिम्बफल से तुलना के कारण उपमा तथा सूर्य बिम्ब के अरुण होने में कुंकुम का कारणरूप संभावित करने में उत्प्रेक्षा है ॥ ३५ ॥

प्रातःसमये कमलिन्यो विकसिता अभूवन्निति वर्णयति—

सुधाकरं वार्धकतः क्षपायाः, सम्प्रेक्ष्य मूर्द्धानमिवानमन्तम् ।
तद्विप्लवायेव सरोजिनीनां, स्मितोन्मुखं पङ्कजवक्त्रमासीत् ॥ ३६ ॥

सुधाकरमिति—क्षपायाः = रजन्याः । वार्द्धकतः = वृद्धस्य भावः वार्द्धकं वृद्धत्वं तस्मात्, चन्द्रवल्लभाया विभावर्याः गतप्रायत्वात् जरातः । आनमन्तम् = अवनतम्, अस्तोन्मुखत्वात् अधो-गच्छन्तमिति यावत् । मूर्धानमिव = मस्तकमिव । सुधाकरम् = चन्द्रम् । सम्प्रेक्ष्य = अवलोक्य । सरोजिनीनाम् = कमलिनीनाम् । पङ्कजवक्त्रम् = पङ्कजमेव वक्त्रं मुखम् । तद्विप्लवायेन = तस्य चन्द्रस्य कमलिनीशत्रुत्वात् तस्याः क्षपायाश्च शत्रुपत्नीत्वात् विप्लवाय कलहायेव विडम्बनायेवे-त्यर्थः । स्मितोन्मुखम् = ईषद्धास्ययुक्तम् । आसीत् = बभूव । यथा काचिन्नायिका स्वशत्रोः शत्रु-पत्न्याश्च दुरवस्थां दृष्ट्वा हृष्यति, तद्विडम्बनाय स्मेरानना च भवति तथैव सरोजिन्यः क्षीणप्रायां

शर्वरीमस्तोन्मुखं चन्द्रमसं च दृष्ट्वा विकसिता अभूवन्। अत्राप्रस्तुतनायिकाव्यवहारस्य सरोजिनी-व्यवहारे समारोपात्समासोक्तिः, तल्लक्षणञ्च 'परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्ति'रिति। सुधाकरे च वार्द्धक्यप्रयुक्तावनतमुखश्रीमस्तकस्य चोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा। पङ्कजे वक्त्रत्वसमारोपात् रूपकम्। अतश्च उत्प्रेक्षारूपकमूला समासोक्तिरिति त्रयाणां सङ्करः॥

अन्वयः—क्षपाया वार्धक्यतः आनमन्तम् मूर्द्धानम् इव सुधाकरं सम्प्रेक्ष्य सरोजिनीनां पङ्कज-वक्त्रं तद्विप्लवाय इव स्मितोन्मुखम् आसीत्।

अनुवाद—निशा के मानो वार्द्धक्यवशात् झुके जाते शिर जैसे चन्द्रमा को देखकर कमललताओं के कमलरूपी आनन मानो उनके विडम्बन के लिये ईषत् स्मितियुक्त हो गये।

भावार्थ—कमललतायें रात्रि को नहीं खिलतीं। प्रातः होते ही खिलना उनका स्वभाव है। किन्तु कवि कल्पना करता है कि चूँकि चन्द्र के उदय से कमललतायें संकुचित हो जाती हैं, अतः वह उनका शत्रु है और उसकी प्रिया रजनी भी शत्रुपत्नी है। प्रातः श्वेत झुका हुआ चन्द्रमा मानो वृद्ध शत्रु पत्नी का झुका हुआ श्वेत सिर है, जिसे अवनत देखकर उसकी विडम्बना के लिये कमललताओं के कमलरूपी आनन मुस्करा उठते हैं।

कोषः—'डिम्बे डमरविप्लवौ' इत्यमरः।

अलंकार—यहाँ अप्रस्तुत नायिका व्यवहार का सरोजिनी व्यवहार में समारोप है, अतः समासोक्ति है। यह समासोक्ति 'सुधाकर' में वार्द्धक्य से झुकते नारी के शिर की सम्भावना से उत्प्रेक्षा द्वारा तथा 'पङ्कजवक्त्र' में रूपक द्वारा निष्पन्न होती है। अतः तीनों का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है॥ ३६॥

चालुक्यवंशमूलपुरुषस्य ब्रह्मचुलुकादुत्पत्तिरित्युपवर्णयति—

ज्ञात्वा विधातुश्चुलुकात्प्रसूतिं तेजस्विनोऽन्यस्य समस्तजेतुः।
प्राणेश्वरः पङ्कजिनीवधूनां, पूर्वाचलं दुर्गमिवारुरोह॥ ३७॥

ज्ञात्वेति—पङ्कजिनीवधूनाम्=पङ्कजिन्यः कमलिन्यस्ता एव वध्वस्तासाम्। प्राणेश्वरः=जीवितनाथः। विधातुः=ब्रह्मणः। चुलुकात्=जलपूर्णाञ्जलेः। समस्तजेतुः=समस्तस्य सकलस्य भूपतिवर्गस्य जेतुर्विजेतुः। अन्यस्य=अपरस्य कस्यचित्। तेजस्विनः=प्रतापिनश्चालुक्य-कुलमूलपुरुषस्येत्यर्थः। प्रसूतिम्=उत्पत्तिम्। ज्ञात्वेव=अवगत्येव। दुर्गम्=दुर्गमं दुष्प्राप्य-स्थाने पर्वतादौ शत्रोराक्रमाणादभिरक्षितुं निर्मापितं परिखाप्राचीरादिभिर्वलयितं सम्यग्रक्षितं स्थानम्। तच्च सप्ताङ्गस्य राज्यस्यातीव महत्त्ववदङ्गम्। तथा च कामन्दकीये—'स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो वलं महत्। परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते॥' पूर्वाचलम्=उदय-गिरिम्। आरुरोह=आरुह्य स्वं रक्षयामासेत्यर्थः। सकलविजेतुरन्यस्य प्रतापिनो भयाद्दुर्गरूपं दुर्गमं वास्ताचलं समारुह्य स्वं रक्षितवान् सूर्य इत्याशयः। अत्र पङ्कजिन्यां वधूत्वारोपः सूर्ये प्राणेश्वरस्याभेदारोपे कारणम्, अतः परिम्परितरूपकम्। पूर्वाचले दुर्गाभेदाद्रूपकम्। सूर्यस्य दुर्गारोहे अन्यतेजस्विनः प्रसूतिज्ञानस्य कारणत्वेनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा। सूर्यवृत्तान्ते च तादृशाप्रकृता यपुरुषवृत्तान्ताभेदसमारोपात् समासोक्तिश्च। अत एतेषामलङ्काराणां सङ्करः॥

अन्वयः—पङ्कजिनीवधूनां प्राणेश्वरः विधातुः चुलुकात् समस्तजेतुः अन्यस्य तेजस्विनः प्रसूतिं ज्ञात्वा इव दुर्गं पूर्वाचलम् आरुरोह ।

अनुवाद—कमललतारूपिणी वधुओं के पति (सूर्य) ब्रह्मा के चुल्लू से सकलविजेता (किसी) अन्य तेजस्वी की उत्पत्ति (होने वाली है–यह) मानो जानकर पूर्वाचल रूप दुर्ग पर चढ़ गये ।

भावार्थ—जैसे सब को जीत लेने वाले आक्रान्ता के आक्रमण की आशंका होते ही राजा अपने दुर्ग में आश्रय ले लेते हैं, उसी प्रकार सकल विजेता तेजस्वी का उदय होनेवाला है, मानो यह जान सूर्य उदयाचल पर आरूढ हो गये । प्रातःकाल सूर्य के उदित होने का यह कल्पना के चमत्कार से युक्त वर्णन है ।

कोष:—'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोपराष्ट्रदुर्गबलानि च । राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च ॥" इत्यमरः ।

अलंकार—यहाँ 'पङ्कजिनी' पर 'वधूत्व' का आरोप सूर्य पर 'प्राणेश्वरत्व' के आरोप का कारण है, अतः परम्परित रूपक है । पूर्वाचल और दुर्ग में अभेद के कारण रूपक है । सूर्य के दुर्गारोहण में अन्य तेजस्वी की उत्पत्ति का ज्ञान कारण रूप में सम्भावित किया गया है, अतः उत्प्रेक्षा है । सूर्य के वृत्तान्त में उसी तरह के अप्रकृत अन्य पुरुष के वृत्तान्त का अभेद समारोप होने से समासोक्ति है । अतः इन सभी अलंकारों का संकर यहाँ मानना चाहिए ॥ ३७ ॥

प्रातःकाले चन्द्रिका चन्द्रबिम्बे समाविष्टातश्चान्यत्र न दृश्यत इति वर्णयति—

जगाम याङ्गेषु रथाङ्गनाम्नां परस्परादर्शनलेपनत्वम् ।
सा चन्द्रिका चन्दनपङ्ककान्तिः, शीतांशुशाणाफलके ममज्ज॥ ३८ ॥

जगामेति—या = चन्द्रिका । रथाङ्गनाम्नां = रथस्याङ्गं चक्रं नाम येषां तेषां रथानाम्नां चक्रवाकपक्षिणाम् । अङ्गेषु = गात्रेषु । परस्परादर्शनलेपनत्वम् जगाम = परस्परस्यान्योन्यस्य यद्-दर्शनं तस्मै लेपनं, तस्य भावस्तद्भूत्, चन्द्रिका अन्योन्यादर्शनप्रयोजकीभूतलेपनतया परिणतेति भावः । सर्वलोकप्रकाशिकायां ज्योत्स्नायां सत्यामपि चक्रवाकयुगलमन्योन्यावलोकनेऽक्षममेव यद् भवति तत्रोत्प्रेक्ष्यते चक्रवाकाङ्गेपु ज्योत्स्नाविलेपनेन अन्योन्यादर्शनत्वसमुत्पत्तिर्भवति । अत्यन्त-धवलिम्ना विविक्ततया गात्राणामविभावनं चन्द्रिकालेपनाद्भूततिरोधानलाभो वा तत्र हेतुरिति विभावनीयम् । सा चन्दनपङ्ककान्तिः = चन्दनपङ्कस्य कान्तिरिव कान्तिर्यस्याः सा । चन्द्रिका = ज्योत्स्ना । शीतांशुशाणाफलके = शीतांशुश्चन्द्रः शाणाफलकमिव चन्दनघर्षणफलकमिवेत्युपमित-समासः । ममज्ज = समाविष्टा । प्रातःकाले जाते सर्वत्र अपरिदृश्यमाना चन्दनपङ्ककान्तिश्चन्द्रिका चन्द्रशाणाफलक एव समाविष्टेति भावः । चन्दनपङ्ककान्तिरित्यत्रोपमा । शीतांशुशाणाफलके इत्यत्र चोपमा ॥

अन्वयः—या रथाङ्गनाम्नाम् अङ्गेषु परस्परादर्शनलेपनत्वं जगाम सा चन्दनपङ्ककान्तिः चन्द्रिका शीतांशुशाणाफलके ममज्ज ।

अनुवाद—जो चक्रवाकों के अंगों में परस्पर अदर्शन के (हेतुभूत) लेपन के रूप में

परिणत हो गयी, वह चन्दन पंक की तरह ज्योत्स्ना शीतरश्मिचन्द्ररूप शाणाफलक (होरसे) में समाविष्ट हो गयी।

भावार्थ—जो चाँदनी रात में चक्रवाकों के परस्पर न दिखने अर्थात् वियोग का कारण थी, वही प्रातः चूँकि चन्दन की तरह है, अतः चन्दन के होरसे की तरह गोल चन्द्रबिम्ब में ही मानो समाविष्ट हो गयी।

कोष:—'कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनामकः' इत्यमरः।

अलंकार—रथाङ्गों में परस्परादर्शनलेपनत्व रूप में परिणत होने के उत्प्रेक्षण से उत्प्रेक्षा है तथा चन्दन पंक की कान्ति की तरह कान्ति चन्द्रिका में मानने से और तथा शीतांशु को शाणाफलक की भाँति वर्णित करने से दोनों स्थलों पर उपमा है ॥ ३८ ॥

इन्द्रः ब्रह्माणं विज्ञापयामास—

> सन्ध्यासमाधौ भगवान् स्थितोऽथ, शक्रेण बद्धाञ्जलिना प्रणम्य ।
> विज्ञापितः शेखरपारिजातद्विरेफनादद्विगुणैर्वचोभिः ॥ ३९ ॥

सन्ध्येति—अथ = अनन्तरम् । 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः। सन्ध्यासमाधौ = सन्ध्यासमयध्यानयोगे। स्थितः = मग्नः। भगवान् = ब्रह्मा । बद्धाञ्जलिना = कृताञ्जलिना। शक्रेण = इन्द्रेण। प्रणम्य = नमस्कृत्य। शेखरपारिजातद्विरेफनादद्विगुणैः = शेखरे मस्तके शिरोभूषणरूपे पारिजाते देवकुसुमविशेषे ये भ्रमरास्तेषां नादेन गुञ्जनेन द्विगुणैः। 'द्विरेफ-पुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमरालयाः' इत्यमरः। वचोभिः = वचनैः। विज्ञापितः = प्रार्थितः ॥

अन्वयः—अथ सन्ध्यासमाधौ स्थितः भगवान् बद्धाञ्जलिना शक्रेण प्रणम्य शेखरपारिजात-द्विरेफनादद्विगुणैः वचोभिः विज्ञापितः।

अनुवाद—तदनन्तर सन्ध्या की समाधि में स्थित भगवान् (ब्रह्मा) हाथ जोड़े हुए इन्द्र के द्वारा प्रणाम कर शिरपर शिरोमाला के रूप में धारित पारिजात पर मँडराते भौंरों के नाद से दूने स्वर में प्रार्थित हुए।

भावार्थ—प्रातःकाल इन्द्र ने उच्च स्वर में ब्रह्मा से निवेदन किया।

कोष—'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः । 'द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पद-भ्रमरालयाः' इत्यमरः ॥ ३९ ॥

इतः परं चतुर्भिः श्लोकैः स्वैश्वर्यं वर्णयन् शक्रः ब्रह्माणं स्तौति—

> आस्ते यदैरावणवारणस्य, मदाम्बुसङ्गान्मिलितालिमाला ।
> साम्राज्यलक्ष्मीजयतोरणाभे, दन्तद्वये वन्दनमालिकेव ॥ ४० ॥

आस्त इति—यत् ऐरावणस्य = एतन्नाम्नः इन्द्रगजस्य । 'ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमु-वल्लभाः' इत्यमरः। साम्राज्यलक्ष्मीजयतोरणाभे = साम्राज्यलक्ष्म्या जयसूचकं विजयख्यापकं यत् तोरणं बहिर्द्वारं, तस्याभा कान्तिरिवाभा यस्य तस्मिन्। दन्तद्वये = रदयुगले। 'रदना दशना दन्ता रदाः' इत्यमरः। मदाम्बुसङ्गात् = मदजलसम्पर्कात्। मिलितालिमाला = मिलिता समागता

अलिमाला भ्रमरपङ्क्तिः । वन्दनमालिकेव = आम्राशोकादिपत्ररचितमालेव । आस्ते = राजते । 'स सर्व एव त्वत्पादसेवारजसां प्रभाव' इत्यग्रिमेणान्वयः । आम्राशोकपल्लवैः रचिता माला शुभद्योतिका माङ्गलिककार्येषु द्वारोपरि निबध्यते । दन्तद्वये जयतोरणसादृश्यात् अलिमालिकायाश्च वन्दनमालिकासादृश्यादुपमालङ्कारः ॥

अन्वयः—यत् ऐरावणस्य साम्राज्यलक्ष्मीजयतोरणाभे दन्तद्वये मदाम्बुसङ्गात् मिलितालिमाला वन्दनमालिकेव आस्ते ('स सर्वोऽपि शिरोधृतानां त्वत्पादसेवारजसां प्रभाव' इत्यग्रिमेण सम्बन्धः)।

अनुवाद—जो ऐरावत गज के साम्राज्यश्री के विजयतोरण जैसे दन्तयुग्म पर मद जल के सम्पर्क से आ गयी भ्रमरपंक्ति वन्दनवार की तरह शोभित होती है (वह सब शिरसा धारण की गयी आपकी चरण सेवा रज का प्रभाव है)।

भावार्थ—ब्रह्मा की स्तुति करते हुए इन्द्र कहते हैं कि मुझे विशाल देवसाम्राज्य की प्राप्ति और ऐन्द्रपद का महत्त्व आपकी सेवा के फल के रूप में ही प्राप्त हुआ है।

कोषः--'ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणभ्रमुवल्लभाः' इत्यमरः। 'रदना दशना दन्ता रदा' इत्यमरः।

अलंकार—ऐरावत के दोनों दाँतों में विजयतोरण के साम्य तथा अलिमाला में बन्दनवार के साम्य के कारण उपमा अलंकार है ॥ ४० ॥

यदातपत्रं मम नेत्रपद्मसहस्रलोलालिकदम्बनीलम्।
कुरङ्गनाभीतिलकप्रतिष्ठां, मुखे समारोहति राजलक्ष्म्याः ॥ ४१ ॥

यदिति—यदिति वाक्यार्थपरामर्शकशब्दः । मम = मदीयम् इन्द्रस्येत्यर्थः । नेत्रपद्मसहस्रलोलालिकदम्बनीलम् = नेत्रपद्मानां सहस्रं, तत्र लोलाश्चञ्चला ये अलयो भ्रमरास्तेषां कदम्बं समूहस्तदिव नीलं नीलवर्णम् श्यामलम् । यदातपत्रं = छत्रं । राजलक्ष्म्याः = राजश्रियः । मुखे = आनने । कुरङ्गनाभीतिलकस्य = कस्तूरीविशेषकस्य । प्रतिष्ठां = स्थितिम् । समारोहति = भजते । (स त्वत्पादसेवारजसां प्रभाव इत्यग्रिमेण सम्बन्धः) । नीलभ्रमरकदम्बेन नीलच्छत्रस्य साम्यादुपमा । नेत्रेषु पद्मत्वारोपाद् रूपकम् । कृष्णचञ्चलताराणां लोलालित्वेनाध्यवसितत्वादतिशयोक्तिः । अत्रैतेषामङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

अन्वयः—यत् मम नेत्रपद्मसहस्रलोलालिकदम्बनीलम् आतपत्रं राजलक्ष्म्या मुखे कुरङ्गनाभीतिलकप्रतिष्ठां समारोहति । (स त्वत्पादसेवारजसां प्रभाव इत्यग्रिमेण श्लोकेनान्वितम्)।

अनुवाद—जो मेरे हजार नेत्रकमलों पर मँडराते भ्रमरसमूह की नीलिमा की तरह नीलवर्ण मेरा छत्र, राजलक्ष्मी के मुखारविन्द पर कस्तूरी के तिलक की तरह सुशोभित हो रहा है। (वह आपकी चरण सेवा रज का प्रभाव है—इस ४३वें श्लोक से सम्बन्ध है) ॥ ४१ ॥

भावार्थ—मेरा नील वर्तुल छत्र राजलक्ष्मी के आनन पर कस्तूरी तिलक की तरह दिखाई पड़ता है।

कोषः--'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः।

अलंकार—नील भ्रमरसमूह के साथ नील छत्र की तुलना के कारण उपमा अलंकार है। नेत्रों पर पद्मत्व का आरोप होने से रूपक है। कृष्णचञ्चल तारकों का चंचल अलित्व में अध्यवसाय होने से अतिशयोक्ति है। अतः इन तीनों का संकर है ॥ ४१ ॥

यन्नन्दने कल्पमहीरुहाणां, छायासु विश्रम्य रतिश्रमेण।
गायन्ति मे शौर्यरसोर्जितानि, गीर्वाणसारङ्गदृशो यशांसि ॥ ४२ ॥

यदिति—यत्=यदिति वाक्यार्थपरामर्शकः। गीर्वाणसारङ्गदृशः=गीर्वाणानां देवानां, गिरं वन्वते, स्तुतिप्रियत्वात् 'वनु' याचने, ततः 'कर्मण्यण्' इत्यण्, 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति 'णत्वम्', 'बर्हिर्मुखाः क्रतुभुजो गीर्वाणा दानवारयः' इत्यमरः, सारङ्गस्य दृगिव दृक् यासान्ताः-सारङ्गदृशः मृगलोचनाः-देवरमण्यः इत्यर्थः। नन्दने=नन्दनकानने इन्द्रोद्यान इत्यर्थः। 'हय उच्चैश्रवाः सूतो मातलिर्नन्दनं वनमि'त्यमरः। कल्पमहीरुहाणां=कल्पतरूणाम्। छायासु रतिश्रमेण=संभोगपरिश्रमेण। विश्रम्य=श्रान्तिं दूरीकृत्य। मे=ममेन्द्रस्य। शौर्यरसोर्जितानि=शूरस्य भावः कर्म वा शौर्यं,'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि चे'ति ष्यञ्। तदेव रसः वीररसस्तेन, ऊर्जितानि बलवन्ति समुन्नतानीत्यर्थः, वीररसोन्नतानीति यावत्। यशांसि=कीर्तीः। गायन्ति=स्तुवन्ति। (स त्वत्पादसेवारजसां प्रभावः इत्यग्रिमेण सम्बन्धः) ॥

अन्वयः—यद् गीर्वाणसारङ्गदृशः नन्दने कल्पमहीरुहाणाम् छायासु रतिश्रमेण विश्रम्य मे शौर्यरसोर्जितानि यशांसि गायन्ति ('स सर्वोऽपि त्वत्पादसेवारजसां प्रभावः' इत्यग्रिमेणान्वयः)।

अनुवाद—जो देवाङ्गनाएँ नन्दन वन में कल्पवृक्षों की छायाओं में अपने रतिश्रम से श्रान्त हो विश्राम कर वीररस से उत्कृष्ट मेरी कीर्ति गाती रहती हैं (वह अपकी चरण-सेवारज का प्रभाव है)।

भावार्थ—अप्सराओं का स्वभाव ही विलास है। वे विलास वेला में भी रतिजनितश्रम से थककर नन्दनवन में कल्पवृक्षों के नीचे विश्राम के बाद बहुधा मेरा यशोगान करती है—यह सब आप का ही प्रभाव है।

कोषः—'बर्हिर्मुखाः क्रतुभुजो गीर्वाणा दानवारयः' इत्यमरः।

अलंकार—नीले भ्रमरसमूह से छत्र के साम्य के कारण उपमा है। नेत्रों पर कमलत्व का आरोप होने से रूपक तथा काली चंचल पुतलियों के चंचल अलिरूप में अध्यवसित होने के कारण अतिशयोक्ति है। इन तीनों अलंकारों का संकर है ॥ ४२ ॥

शक्रकृतोपकाराणां वर्णनातीतत्वं प्रतिपादयति—

किं वा बहूक्तैः पुरुहूत एष, पात्रं महिम्नो यदनङ्कुशस्य।
स्वामिन् स सर्वोऽपि शिरोधृतानां त्वत्पादसेवारजसाम्प्रभावः ॥ ४३ ॥

किंवेति—(हे) स्वामिन्=हे ईश, सम्बोधने रूपम्। बहूक्तैः किंवा-बहुवचोभिः किं प्रयोजनम्। यद् एष पुरुहूतः=पुरु-प्रचुरं हूतम् आह्वानं यज्ञेष्वस्येति, अथवा पुरूणि हूतानि नामान्यस्येति पुरुहूतः शक्रः। 'वृद्धश्रवाः सुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः' इत्यमरः। अनङ्कुशस्य=न

विद्यते अङ्कुशो यस्मिंस्तस्य अनङ्कुशस्य अव्याहतस्य। महिम्नः = ऐश्वर्यस्य, महत्त्वस्येत्यर्थः। पात्रं = भाजनं। स सर्वोऽपि = निखिलोऽपि। शिरोधृतानाम् = शिरसा धृतानां। त्वत्पादसेवारजसाम् = तव पादयोः सेवाया रजांसि तेषां त्वत्पादसेवारजसां = त्वच्चरणसेवालेशानां। प्रभावः = प्रतापः भवत्यनेनेति भावः 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' इति 'घञ्' प्रत्ययः, प्रकृष्टो भावः, प्रभवनं वेति = प्रभावः, भावे घञ् वा। 'आस्ते यदैरावण' इत्यादिनारभ्य अत्र यावच्चतुर्भिः श्लोकैः चक्कलकम् (कलापकं), 'कलापकश्चतुर्भिः स्यादि'ति तल्लक्षणात्। चक्कलकशब्दोऽयं कलापकार्थे कश्मीरे रूढः।

'छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
द्वाभ्यान्तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते॥
कलापकश्चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्।'

अत्र पञ्चभिरिति न्यूनसंख्याव्यवच्छेदः। पञ्चाधिकैश्चेत्यर्थः। सन्दानितकं विशेषकं—तिलकं वा।

अन्वयः—स्वामिन्, बहूक्तैः किम् वा, यद् एष पुरुहूतः अनङ्कुशस्य महिम्नः पात्रं स सर्वोऽपि शिरोधृतानां त्वत्पादसेवारजसां प्रभावः।

अनुवाद—स्वामिन्, अधिक वाचालता से क्या लाभ ? जो यह इन्द्र, अव्याहत महत्त्व का पात्र है, वह सब आपकी सेवारज का ही प्रभाव है।

भावार्थ—अधिक वाचाल होने से क्या लाभ। मैं जो भी अव्याहत महिमा का पात्र बन सका हूँ, यह भी सब आपके चरणकमलों की ही महिमा का प्रभाव है।

कोषः—'वृद्धश्रवाः सुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः' इत्यमरः।

विशेष—यहाँ 'आस्ते यदैरावण' इत्यादि श्लोक से लेकर इस श्लोक तक चार वृत्तों में 'कलापक' पूर्ण हुआ है। इसे काश्मीर में चक्कलक नाम से कहा जाता था ॥ ४३ ॥

तत्र सम्प्रति यागादिसम्पादने विप्लवः समापतित इति वक्ति—

निवेदितश्चारजनेन नाथ, तथा क्षितौ सम्प्रति विप्लवो मे।
मन्ये तथा यज्ञविभागभोगः, स्मर्तव्यतामेष्यति निर्जराणाम् ॥ ४४ ॥

निवेदित इति—नाथ = हे ईश ! चारजनेन = गुप्तचरसमूहेन, चरतीति चरः 'पचाद्यच्' इत्यच्, चर एव चारः 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इत्यण्, आदिवृद्धिः, चारश्चासौ जनश्च-चारजनस्तेन। सम्प्रति = साम्प्रतम् अधुनेत्यर्थः। तथा = तेन प्रकारेण, तद्-शब्दात् 'प्रकारवचने थाल्' इति स्वार्थे थाल् प्रत्ययः, 'त्यदादीनामः' इति 'अकारः'। 'व वा यथा तथैवैवं साम्ये' इत्यमरः। विप्लवः = डिम्बोऽधर्माचरणम् इति यावत्, विप्लवं विप्लवः, अत्र 'प्लुङ्' गतौ धातोः 'ऋदोरप्' इत्यप् प्रत्ययः। 'डिम्बे डमरविप्लवौ' इत्यमरः। मे = मह्यम्। निवेदितः = कथितः। यथा = येन प्रकारेण, यद्शब्दात् 'प्रकारवचने थाल्' इति थाल् प्रत्ययः, त्यदाद्यत्वम्। निर्जराणाम् = सुराणाम्, निर्गता जरा येभ्यस्तेषां निर्जराणाम्। 'अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः' इत्यमरः। यज्ञविभागभोगः = यज्ञे विभागस्तस्य भोगः क्रत्वंशग्रहणम्। स्मर्तव्यतां = लोपमित्यर्थः। एष्यति = प्राप्स्यति। इति मन्ये = जानामि।

अन्वयः—(हे) नाथ ! चारजनेन सम्प्रति तथा विप्लवः मे निवेदितः यथा निर्जराणाम् यज्ञविभागभोगः स्मर्तव्यताम् एष्यति इति मन्ये।

अनुवाद—स्वामिन्, सम्प्रति गुप्तचरों ने उस तरह के उपद्रव को मुझ से बताया है, जिससे मैं समझता हूँ कि देवताओं के यज्ञीय भाग का उपभोग स्मरण की वस्तु भर रह जायगा, अर्थात् लुप्त हो जायगा।

भावार्थ—भूमण्डल पर देवों का अन्त और दैत्यों का साम्राज्य बढ़ रहा है। ऐसी स्थिति में देवता यज्ञांश प्राप्त ही न कर सकेंगे।

कोषः—'अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुरा' इत्यमरः ॥ ४४ ॥

सम्प्रति रक्षणोपायं विधातुं निवेदयति—

धर्मद्रुहामत्र निवारणाय, कार्यस्त्वया कश्चिदवार्यवीर्यः।
रवेरिवांशुप्रसरेण यस्य, वंशेन सुस्थाः ककुभः क्रियन्ते ॥ ४५ ॥

धर्मद्रुहामिति—अत्र=भूमण्डले। धर्मद्रुहाम्=धर्माय द्रुह्यन्ति तेषां धर्मद्रुहां, धर्मविरोधिनाम्। निवारणाय=विनाशाय। त्वया=भवता ब्रह्मणेत्यर्थः। अवार्यवीर्यः=अवार्यं वीर्यं यस्य सः अवार्यवीर्यः, अप्रतिहतपराक्रमः। कश्चिद्=अलौकिकसामर्थ्यवान् कश्चन। कार्यः=उत्पाद्यः, कर्तुं योग्यः कार्यः। अत्र 'कृ' धातोः 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत् प्रत्ययः 'अचो-ञ्णिति' इत्यादिवृद्धिः। यस्य=वीरस्य। वंशेन=कुलेन। रवेः=सूर्यस्य। अंशु-प्रसरेणेव=मरीचिविसर्पणेनेव, प्रपूर्वकात् सृगतौ ततो बाहुलकाद् अप् प्रत्ययः। 'प्रसरस्तु विसर्पणम्' इत्यमरः। सुस्थाः=स्वस्थाः, सु 'स्था' धातोः 'सुपि स्थः' इति 'क' प्रत्ययः, 'आतो लोप इटि चे' त्याकारलोपः। ककुभः=काष्ठाः, दिक्षु स्थिताश्च लोकाः। क्रियन्ते=विधीयन्ते। राज्ञि सूर्यस्य साम्यात् तद्वंशे चांशुप्रसरस्य साम्यादुपमालङ्कारः।

अन्वयः—अत्र धर्मद्रुहां निवारणाय त्वया अवार्यवीर्यः कश्चित् कार्यः, यस्य वंशेन रवेः अंशुप्रसरेण इव सुस्थाः ककुभः क्रियन्ते।

अनुवाद—आप यहाँ धर्मद्रोहियों का निवारण करने के लिये अप्रतिहत शौर्यशाली किसी वीर को उत्पन्न करें। सूर्य के किरण प्रसार की भाँति जिसके वंश से सभी दिशाएँ स्वस्थ अर्थात् उपद्रव रहित हो जायँ।

भावार्थ—अतः धर्मद्रोहियों को मारने के लिए आप किसी अविजेय मनुष्य का अपने संकल्प से निर्माण कीजिए। जिसके वंश से दिशाएँ उसी प्रकार शान्त रहें जैसे भगवान् सूर्य की किरणों से वे निरुपद्रव बन जाती हैं।

कोषः—'प्रसरस्तु विसर्पणम्' इत्यमरः।

अलंकार—राजा में सूर्य तथा उसके वंश में अंशुप्रसार का सादृश्य होने से उपमा अलंकार है ॥ ४५ ॥

एतानीन्द्रवचनानि निशम्य ब्रह्मा चुलुके जलं जग्राहेति वर्णयति—

पुरन्दरेण प्रतिपाद्यमानम्, एवं समाकर्ण्य वचो विरिञ्चिः।
सन्ध्याम्बुपूर्णे चुलुके मुमोच, ध्यानानुविद्धानि विलोचनानि ॥ ४६ ॥

पुरन्दरेणेति—विरिञ्चिः=विधाता, विरचयतीति विरिञ्चिः। 'रच्' प्रतियत्ने, ततः स्वार्थण्यन्तात् 'अच इः' इति 'इ' प्रत्ययः 'पृषोदरादित्वात्' इति अकारस्येत्वं नुमागमश्च। 'धाताब्जयोनिर्द्रुहिणो विरिञ्चिः कमलासनः' इत्यमरः। पुरन्दरेण=इन्द्रेण, पुरोऽरीणां दारयतीति-पुरन्दरः, अत्र दारेः खचि, णिलोपे, उपधाह्रस्वे, सुपो लुकि 'वाचंयमपुरन्दरौ च' इति निपातनाद्रूपम्। 'पुरुहूतः पुरन्दरः' इत्यमरः। एवम्=इत्थं। प्रतिपाद्यमानं=कथ्यमानं। वचः समाकर्ण्य=श्रुत्वा। ध्यानानुविद्धानि—ध्यानमग्नानि विलोचनानि=नयनानि। सन्ध्याम्बुपूर्णे=सन्ध्याजलपरिपूर्णे। चुलुके=अञ्जलौ। मुमोच=चुलुकमवलोकयामासेति भावः।

अन्वयः—विरञ्चिः पुरन्दरेण एवं प्रतिपाद्यमानं वचः समाकर्ण्य ध्यानानुविद्धानि विलोचनानि सन्ध्याम्बुपूर्णे चुलुके मुमोच।

अनुवाद—इन्द्र के वचनों को सुनकर ध्यान में मग्न ब्रह्मा ने अपनी दृष्टि सन्ध्या के जल से परिपूर्ण अपनी अञ्जलि पर डाली।

भावार्थ—ब्रह्मा ने ध्यानपूर्वक अपने करतल स्थित जल को देखा अर्थात् उसी संकल्पित जल से सृष्टि करनी चाही।

कोषः—'धाताब्जयोनिर्द्रुहिणो विरिञ्चिः कमलासनः' इत्यमरः ॥ ४६ ॥

अथ कुलकारम्भः—

प्रकोष्ठपृष्ठस्फुरदिन्द्रनीलरत्नावलीकङ्कणडम्बरेण।
बन्धाय धर्मप्रतिबन्धकानां, वहन्सहोत्थानिव नागपाशान् ॥ ४७ ॥

प्रकोष्ठेति—प्रकोष्ठपृष्ठस्फुरदिन्द्रनीलरत्नावलीकङ्कणडम्बरेण=प्रकोष्ठस्य पृष्ठे पृष्ठभागे, स्फुरन्ति देदीप्यमानानि, यानि इन्द्रनीलरत्नानि तेषाम् आवली पंक्तिः तया युक्तः कङ्कणस्तस्य डम्बरेण मिषेण। धर्मप्रतिबन्धकानां=धर्मविरोधिनाम्। बन्धाय=बन्धनाय। सहोत्थितान्=सहोत्पन्नान्। नागपाशान्=सर्पबन्धनानि। वहन् इव=धारयन्निव सुभटो धातुश्चुलकाद् आविरासीद् इत्यग्रेण सम्बन्धः। इन्द्रनीलरत्नावलीकङ्कणे नागपाशस्य संभावनया उत्प्रेक्षा। सा च 'डम्बरेण' इत्यपह्नुतिमूलत्वात् सापह्नवा।

अन्वयः—प्रकोष्ठपृष्ठस्फुरदिन्द्रनीलरत्नावलीकङ्कणडम्बरेण धर्मप्रतिबन्धकानां बन्धाय सहोत्थितान् नागपाशान् वहन् इव सुभटश्चुलुकाद् आविरासीत् इति परेण सम्बन्धः।

अनुवाद—कलाई में पहने हुए इन्द्रनील मणि-जटित कंकण की शोभा से ऐसा लगता था मानों धर्मद्रोहियों को बाँधने के लिए वह सहजात नागपाशों को धारण किये हो। (ऐसा वीर विधाता की अंजलि से उत्पन्न हुआ)।

भावार्थ—चालुक्य जब ब्रह्मा के करतल-जल से उत्पन्न हुए तब वह अपनी कलाई में नीलमणि और रत्नों से जड़े कंकण को पहने हुए थे।

कोषः—'कफोणिस्तु कूर्परः'। 'अस्योपरि प्रगण्डः स्यात् प्रकोष्ठस्तस्य चाप्यधः' इत्यमरः।

अलंकार—'इन्द्रनीलपंक्ति से युक्त कंकण में नागपाश का संभावन करने से उत्प्रेक्षा है तथा वह 'डम्बरेण' इस अपह्नुति से अनुप्राणित है॥ ४७॥

धातृचुलुकादाविर्भवन्तं वीरं वीर्णयति—

उत्तर्जनीकेन मुहुः करेण, कृताकृतावेक्षणबद्धलक्षः।
रुषा निषेधन्निव चेष्टितानि, दिक्पालवर्गस्य निरर्गलानि॥ ४८॥

उत्तर्जनीकेनेति—कृताकृतावेक्षणबद्धलक्षः=कृतञ्च तदकृतञ्च कृताकृते, तयोरवेक्षणं, तत्र बद्धं लक्षं येन सः—कृताकृतावेक्षणबद्धलक्षः, उचितानुचितकार्यसमीक्षणबद्धदृष्टिः। रुषा=रोषेण। उत्तर्जनीकेन=उद्गता तर्जनी यस्य, तेन उत्तर्जनीकेन—उन्नततर्जनीकेन। करेण=हस्तेन। दिक्पालवर्गस्य=दिक्पालानां वर्गस्तस्य दिक्पालसमूहस्य। निरर्गलानि—अप्रतिहतानि। चेष्टितानि=कार्याणि। मुहुः=पुनः पुनः। निषेधन्निव=निवारयन्निव। 'आविरासीदि'ति परेण सम्बन्धः। उत्तर्जनीककरे दिक्पालचेष्टितकर्मकनिषेधक्रियायाः समुत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा।

अन्वयः—कृताकृतावेक्षणबद्धलक्षः रुषा उत्तर्जनीकेन करेण दिक्पालवर्गस्य निरर्गलानि चेष्टितानि मुहुः निषेधन्निव ('आविरासीत्' इति अग्रिमश्लोकेन सम्बन्धः)।

अनुवाद—कृत और अकृत कार्य के निरीक्षण में लक्ष्य बाँधे वह वीर रोष से हाथ की उठी हुई तर्जनी से मानो, दिक्पालों के निरंकुश कार्यों का बार-बार निषेध करता हुआ विधाता के चुलुक से उत्पन्न हुआ।

भावार्थ—वह उत्पन्न होते समय अपनी तर्जनी को ऊपर उठाकर मानो दिक्पालों तक के निरंकुश कार्यों का निषेध कर रहा था, तो सामान्यजन की तो बात ही क्या?

कोषः—'तर्जनी स्यात्प्रदेशनी' इत्यमरः।

अलंकार—उत्तर्जनीक कर से दिक्पाल चेष्टा के निषेध के उत्प्रेक्षण से उत्प्रेक्षा अलंकार है॥ ४८॥

जायमान एव स विक्रमैकरसो दृष्ट इति प्रतिपादयति—

भोगाय वैपुल्यविशेषभाजं, कर्तुं धरित्रीं निजवंशजानाम्।
केयूरसङ्क्रान्तविमानभङ्ग्या, भुजोद्धृतक्ष्माभृदिवेक्ष्यमाणः॥ ४९॥

भोगायेति—निजवंशजानां=स्ववंशोत्पन्नानां, चालुक्यानामिति शेषः। भोगाय=उपभोगाय। वैपुल्यविशेषभाजं=विपुलस्य भावः वैपुल्यं, तस्य विशेषः आधिक्यं तं भजति सा वैपुल्यविशेषभाक् तां वैपुल्यभाजम् अतिविस्तीर्णामित्यर्थः। धरित्रीं=धरणीम्। 'धरा धरित्री धरणी क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः' इत्यमरः। कर्तुं=विधातुम्। केयूरसङ्क्रान्तविमानभङ्ग्या=

केयूरयोः अङ्गदयोः सङ्क्रान्तानि प्रतिफलितानि विमानानि व्योमयानानि, तेषां भङ्ग्या व्याजेन, छलेन। भुजोद्धृतक्ष्माभृदिव = भुजाभ्याम् उद्धृताः क्ष्माभृतो गिरयो नृपाश्च येन स इव। अवेक्ष्यमाणः = दृष्टो जनैरिति शेषः। 'आविरासीदि'ति परेण सम्बन्धः। नेमे विमानाः किन्तु क्ष्माभृत इति भङ्गिशब्देन प्रतिपादनाद् आर्थी अपह्नुतिः, तन्मूला उत्प्रेक्षा। अतो द्वयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

अन्वयः—निजवंशजानां भोगाय वैपुल्यविशेषभाजं धरित्रीं कर्तुं केयूरसङ्क्रान्तविमानभङ्ग्या, भुजोद्धृतक्ष्माभृद् इव अवेक्ष्यमाणः। 'आविरासीदि'ति परेण सम्बन्धः।

अनुवाद—अपने वंश में उत्पन्न लोगों के भोगार्थ पृथ्वी को अति विस्तीर्ण बनाने की इच्छा से भुजाओं में धारण किये अंगदों में प्रतिविम्बित विमानों के बहाने भुजाओं द्वारा पर्वतों और राजाओं को उन्मूलित करता सा लोगों से देखा जा रहा (वह विधाता के चुलुक से उत्पन्न हुआ)।

भावार्थ—उसके केयूर में विमानों के प्रतिविम्ब पड़ रहे थे। ये प्रतिविम्ब विमानों के नहीं, अपितु भूधरों के थे। मानो अपने वंश में उत्पन्न हुए व्यक्तियों के लिए यह पृथिवी पर्याप्त नहीं है, इसलिए इसको और विशाल कर देना चाहिए—इस इच्छा से जो वह वीर अपने अंगद में प्रतिविम्बित पृथ्वी पर फैले हुए पहाड़ों को उठाकर दूर रख रहा हो।

कोषः—'धरा धरित्री धरणी क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः' इत्यमरः।

अलंकार—ये विमान नहीं, अपितु 'क्ष्माभृत्' हैं, यह अपह्नुति 'भङ्गि' शब्द से प्रतिपादित है, अतः तन्मूला उत्प्रेक्षा है ॥ ४९ ॥

पुनरपि षड्भिः श्लोकैर्विधातुश्चुलुकादाविर्भवन्तं वीरमेव वर्णयति—

अखर्वगर्वस्मितदन्तुरेण विराजमानोऽधरपल्लवेन।
समुत्थितक्षीरविपाण्डुराणि पीत्वेव सद्यो द्विषतां यशांसि ॥ ५० ॥

अखर्वेति—अखर्वगर्वस्मितदन्तुरेण = न खर्वः अखर्वः, स चासौ गर्वस्तेन स्मितं तेन दन्तुरस्तेन—अखर्वगर्वस्मितदन्तुरेण महादर्पस्मितदन्तुरेण। दन्तुर इति 'उरच्' प्रत्यये रूपम्। अधरपल्लवेन = अधरः पल्लव इव तेन अधरपल्लवेन अधरोष्ठेन। उपलक्षणे तृतीया। विराजमानः = विराजतेऽसौ विराजमानः शोभमानः। क्षीरविपाण्डुराणि = क्षीरवद् विपाण्डुराणि दुग्धधवलानि। द्विषताम् = द्विषन्ति ते द्विषन्तस्तेषां द्विषतामरीणाम्। यशांसि = कीर्त्तीः। 'यशः कीर्तिः समज्ञा चे'त्यमरः। सद्यः = तत्क्षणं। पीत्वेव = पानं कृत्वेव। समुत्थितः = समुत्पन्नः। यथा नवजातशिशुर्दुग्धम्पिबति तथैव जातमात्र एव स यशोदुग्धं पपौ इति भावः। अधरे पल्लवाभेदाद् रूपकम्। क्षीरेण यशसः साम्यादुपमा। क्षीरतुल्ययशःपानानन्तरं समुत्थानस्योत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा। अत एवेषां सङ्करः।

अन्वयः—अखर्वगर्वस्मितदन्तुरेण अधरपल्लवेन विराजमानः क्षीरविपाण्डुराणि द्विषतां यशांसि सद्यः पीत्वेव समुत्थितः।

अनुवाद—प्रबल गर्व से उद्भूत मन्दहास्य से दन्तुर अधर पल्लव से ऐसा लगता हुआ मानो शत्रुओं के दुग्ध के समान धवल यश को तत्काल पीकर ही उदित हुआ है।

भावार्थ—अपनी शक्ति के कारण संसार की हँसी उड़ाते हुए जो उस वीर का अधर दन्तकान्ति से श्वेताभ लगता था, उससे ऐसा प्रतीत होता था कि दुग्ध के समान सफेद शत्रुओं के यश को अभी पीकर उठा हो।

कोषः—'यशः कीर्त्तिः समज्ञा चे'त्यमरः।

अलंकार—यहाँ क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है। अधर के साथ पल्लव का अभेद होने से रूपक तथा क्षीर से यश के साम्य के कारण उपमा भी है। इन तीनों अलंकारों का संकर है॥ ५०॥

सुवर्णनिर्माणमभेद्यमस्त्रैः, स्वभावसिद्धं कवचं दधानः।
जयश्रियः काञ्चनविष्टराभं, समुद्वहन्नुन्नतमंसकूटम्॥ ५१॥

सुवर्णेति—सुवर्णनिर्माणं = काञ्चननिर्मितम्, निर्मीयत इति निर्माणम् 'माङ्' माने शब्दे च ततो 'ल्युट् च' इति नपुंसके भावे ल्युट् सुवर्णेन निर्माणं यस्य तत्। अस्त्रैः = प्रहरणैः, अस्यते इति अस्त्रम्, 'असु' क्षेपणे ततः 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' इति ष्ट्रन् प्रत्ययः। 'अस्त्रं प्रहरणे चापि करवाले नपुंसकम्' इति मेदिनी। अभेद्यम् = भेत्तुमशक्यमच्छेद्यम्। स्वभावसिद्धं = जन्मतः प्राप्तम् प्राकृतिकम्। कवचं = वर्म। 'अथ तनुत्रं वर्म दंशनम्। उरश्छदः कङ्कटकोऽजगरः कवचोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। दधानः = धारयन्, धत्तेऽसौ दधानः, धा-धातोः लटः शानचि प्रथमैकवचने रूपम्। जयश्रियः = विजयश्रियः। काञ्चनविष्टराभं = काञ्चनस्य विष्टरमासनं तस्येवाभा कान्तिर्यस्य सौवर्णासनप्रभम्। उन्नतम् = उच्चैस्तरम्। अंसकूटं = स्कन्धशिखरं। 'मायानिश्चलयन्त्रेषु कैतवानृतराशिषु। अयोघने शैलशृङ्गे सीराङ्गे कूटमस्त्रियाम्' इत्यमरः। समुद्वहन् = धारयन् 'आविरासीत्'। उन्नतस्कन्धत्वञ्च महापुरुषलक्षणमिति सामुद्रिके-'कक्षः कुक्षिश्च वक्षश्च घ्राणः स्कन्धौ ललाटिका। सर्वभूतेषु निर्दिष्टा उन्नतास्तु सुखप्रदाः'। स्वर्णाभदेहप्रभायां नैसर्गिक-कवचस्योत्प्रेक्षा व्यङ्ग्या। देहस्य सुवर्णे नैसर्गिकस्वर्णनिर्मितकवचस्य तादात्म्यारोपात् रूप-कमपि इत्युत्प्रेक्षारूपकयोः सङ्करः।

अन्वयः—सुवर्णनिर्माणम् अस्त्रैः अभेद्यं स्वभावसिद्धं कवचं दधानः जयश्रियः काञ्चन-विष्टराभम् उन्नतम् अंसकूटं समुद्वहन् 'आविरासीत्'।

अनुवाद—सुवर्ण से निर्मित, अस्त्रों से अभेद्य, नैसर्गिक कवच को धारण किए हुए और राजा के सुवर्ण आसन के समान आभायुक्त तथा शिखरसदृश उन्नत स्कन्धों को धारण करने वाला (वीर प्रकट हुआ)।

भावार्थ—सुन्दर वर्ण वाला वह वीर ऐसा प्रतीत होता था, मानो अभेद्य स्वर्ण कवच से युक्त होकर उत्पन्न हुआ हो।

कोषः—'मायानिश्चलयन्त्रेषु कैतवानृतराशिषु। अयोघने शैलशृङ्गे सीराङ्गे कूटमस्त्रियाम्' इत्यमरः।

अलंकारादि—स्वर्णाभ देह कान्ति में नैसर्गिक कवच की उत्प्रेक्षा है, यह वाचक न होने के कारण व्यङ्ग्य है। अंसकूट में 'काञ्चनविष्टर' के साम्य से उपमा है। देह के, सुन्दर वर्ण पर नैसर्गिक स्वर्ण निर्मित कवच का अभेदारोप रूपक भी है, अतः उत्प्रेक्षा और रूपक का संकर भी है ॥ ५१ ॥

स्वःसुन्दरीवन्दिपरिग्रहाय, दत्तोऽञ्जलिः सम्प्रति दानवेन्द्रैः ।
इति प्रहर्षादमराङ्गनानां, नेत्रोत्पलश्रेणिभिरर्च्यमानः ॥ ५२ ॥

स्वःसुन्दरीति—सम्प्रति = इदानीम् । 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । दानवेन्द्रैः–दनोरपत्यानि पुमांसो-दानवास्तेषामिन्द्राः श्रेष्ठास्तैः दैत्यश्रेष्ठैः। 'असुरा दैत्य-दैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः' इत्यमरः । स्वःसुन्दरीवन्दिपरिग्रहाय = स्वःसुन्दरीणां स्वर्ग-रमणीनां वन्दिरूपः परिग्रहः स्त्रीकारः तस्मै, 'वदि' अभिवादनस्तुत्योः तत 'आवश्यकाधमर्ण्य-योर्णिनिः' इति आवश्यकेऽर्थे णिनिः, अवश्यं वन्दन्ते इति वन्दिनः, परिगृह्यते इति परिग्रहः परि + ग्रह + अच् , 'विभाषा ग्रहः' इत्यच् । 'वन्दिनः स्तुतिपाठकाः' इत्यमरः । 'परिग्रहः कलत्रे च मूलस्त्रीकारयोरपि । शपथे परिवारे च राहुवक्त्रस्थभास्करे' इत्यजयः । ओष्ठ्यपाठ–परिग्रहे 'बन्दिः कारावद्धमनुष्यादौ' इत्यर्थात् सुन्दर्य एव कारावद्धास्तासां परिग्रहाय स्वीकाराय, ता वन्दीकर्तुमित्यर्थः । अञ्जलिर्दत्तः इति = जलाञ्जलिर्दत्तः, इतः परं दानवा देवाङ्गना न बन्दिनीः करिष्यन्तीति भावः । अतो हेतोः प्रहर्षात् = आनन्दात् । अमराङ्गनानां = देवसुन्दरीणां । नेत्रो-त्पलश्रेणिभिः = नेत्रकमलपङ्क्तिभिः । अर्च्यमानः = आद्रियमाणः । 'आविरासीत्' इति सम्बन्धः । नेत्रोत्पलश्रेणिभिरर्च्यमाने प्रहर्षस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा । नेत्रयोः उत्पलसाम्या-दुपमा, नेत्राण्येवोत्पलानीति रूपकमपि । अत एषां सङ्करः ।

अन्वयः—सम्प्रति दानवेन्द्रैः स्वःसुन्दरीवन्दिपरिग्रहाय अञ्जलिः दत्तः इति अमराङ्गनानां प्रहर्षात् नेत्रोत्पलश्रेणिभिः अर्च्यमानः—'आविरासीत्' ।

अनुवाद—अब (चालुक्य वंश के मूल पुरुष के प्रकट होते ही) दानवेन्द्रों ने स्वर्ग की सुन्दरियों को अपनी वन्दिनी या बन्दिनी बनाकर रखने को तिलाञ्जलि दे दी है । अतः सुर सुन्दरियों के नेत्रकमलों की पङ्क्तियों से सादर देखा जाता हुआ (विधाता के चुलुक से प्रकट हुआ) ।

भावार्थ—सुरसुन्दरियों को विश्वास हो गया कि अब इस वीर के उत्पन्न होने के बाद वे दैत्यों की बन्दिनी न की जा सकेंगी, अतः वे हर्षित हो उठीं ।

कोषः—'असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः' इत्यमरः ।

अलंकार—नेत्रकमलों से अर्चित होने में प्रहर्ष को कारण रूप में उत्प्रेक्षित करने से उत्प्रेक्षा है । नेत्रोत्पलश्रेणिभिः में उपमा अथवा रूपक है । अतः इनका संकर है ॥ ५२ ॥

अपि स्वयं पङ्कजविष्टरेण, देवेन दृष्टश्चिरमुत्सुकेन ।
वाञ्छाधिक-प्रस्तुत-वस्तुसिद्धि-सविस्मय-स्मेरमुखाम्बुजेन ॥ ५३ ॥

अपीति—वाञ्छाधिक–प्रस्तुत-वस्तु-सिद्धि-सविस्मयस्मेरमुखाम्बुजेन = वाञ्छायाः अभिलाषा-दधिकायाः प्रस्तुतस्य पुरत उपस्थितस्य वस्तुनः अतिप्रभावशालिनो राज्ञः इत्यर्थः, सिद्धिः निर्माणं

तया, सविस्मयं साश्चर्यं, स्मेरं मन्दहासं मुखाम्बुजं मुखकमलं यस्य तेन । पङ्कजविष्टरेण = पङ्कजमम्बुजं विष्टरम् आसनं यस्य तेन । उत्सुकेन = उत्कण्ठितेन । देवेन = ब्रह्मणा । स्वयमपि = आत्मनापि । चिरं = चिरकालं । दृष्टः = अवलोकितः । मुखे अम्बुजसाम्यादुपमा ।

अन्वयः—वाञ्छाधिकप्रस्तुतवस्तुसिद्धिसविस्मयस्मेरमुखाम्बुजेन पङ्कजविष्टरेण उत्सुकेन देवेन स्वयमपि चिरं दृष्टः (सुभटः आविरासीदित्यनेन सम्बन्धः) ।

अनुवाद—अभीष्ट से भी अधिक प्रस्तुत वस्तु (अतिप्रतापशाली राजा) के निर्माण होने से आश्चर्य के साथ मन्दस्मित युक्त मुखकमल वाले कमलासन पर अधिष्ठित स्वयं ब्रह्मा के द्वारा भी उत्सुकता से बहुत समय तक देखा गया (एक वीर प्रकट हुआ) ।

भावार्थ—स्वयं ब्रह्मा को अपनी आशा से कहीं अधिक प्रभाव सम्पन्न वह वीर लगा, अतः उन्होंने बड़े विस्मय से उसे देखा ।

कोषः—'विष्टरो विटपी दर्भमुष्टिः पीठाद्यमासनम्' इत्यमरः ।

अलंकारादि—यहाँ पर मुखाम्बुज में उपमा है ॥ ५३ ॥

कषोपले पौरुषकाञ्चनस्य, पङ्के यशःपाण्डुसरोरुहाणाम् ।
व्यापारयन् दृष्टमतिप्रहृष्टाम् अवाप्तपाणिप्रणये कृपाणे ॥ ५४ ॥

कषोपलेति—पौरुषकाञ्चनस्य = पुरुषस्य कर्म पौरुषं शौर्यं तदेव काञ्चनं सुवर्णं तस्य । कषोपले = निकषशिलायाम् । यशःपाण्डुसरोरुहाणां = यशांस्येव कीर्तय एव पाण्डुसरोरुहाणि श्वेतपुण्डरीकाणि, तेषाम् । पङ्के = कर्दमे । अवाप्तपाणिप्रणये = अवाप्तः प्राप्तः पाणेः हस्तस्य प्रणयः संग्रहणप्रीतिर्यस्मिन् तस्मिन् । कृपाणे = खड्गे । अतिप्रहृष्टाम् = अतिप्रसन्नाम् । दृष्टिं = दृशम् । व्यापारयन् = कुर्वन् , सुभटः 'आविरासीत्' इत्यनेनान्वयः । पौरुषे काञ्चनाभेदारोपस्य कृपाणे कषोपलत्वारोपे हेतुत्वात् यशसि श्वेतपद्मारोपस्य च खड्गे पङ्कत्वारोपे कारणत्वात् परंपरितरूपकद्वयम् ॥

अन्वयः—पौरुषकाञ्चनस्य कषोपले, यशःपाण्डुसरोरुहाणां पङ्के, अवाप्तपाणिप्रणये कृपाणे-अतिप्रहृष्टां दृष्टिं व्यापारयन् 'आविरासीत्' ।

अनुवाद—पराक्रमरूपी सुवर्ण की मानों कसौटी (अथवा) यशरूपी श्वेत कमल की उत्पत्ति के स्थानभूत हाथ से ग्रहण करने की प्रीति से युक्त, कृपाण पर अपनी अत्यन्त प्रसन्न दृष्टि को डालते हुए अर्थात् प्रसन्नता भरी दृष्टि से खड्ग को निहारते हुए (वीर का उदय हुआ) ।

भावार्थ—उस वीर का श्यामल कृपाण उसके यशरूपी स्वर्ण की परख के लिये कसौटी था या यशरूपी पुण्डरीक का उद्भव का स्थान पङ्क था । अतः वह उस कृपाण को हर्षित होकर देख रहा था । कसौटी का पत्थर भी काला होता है और पङ्क भी । श्यामल कृपाण से इनका सादृश्य है ।

कोषः—'पङ्कोऽस्त्री कर्दमे' इत्यमरः ।

अलंकार—कृपाण पर निकष पाषाणत्व के आरोप का हेतु पौरुष पर काञ्चनाभेदारोप

है तथा कृपाण पर पङ्कत्व के आरोप का कारण यश का पुण्डरीक से अभेद है। अतः दो परम्परित रूपक हैं ॥ ५४ ॥

हेमाचलस्येव कृतः शिलाभिरुदारजाम्बूनदचारुदेहः ।
अथाविरासीत्सुभटस्त्रिलोकत्राणप्रवीणश्चुलुकाद्विधातुः ॥ ५५ ॥

हेमाचलस्येति—अथ = चुलुकावलोकनानन्तरमित्यर्थः । हेमाचलस्य = सुमेरोः । शिलाभिः = पाषाणैः कृतः = रचित इव । उदारजाम्बूनदचारुदेहः = उदारं महत् शुद्धमित्यर्थः यज्जाम्बूनदं सुवर्णं, तद्वच्चारुः सुन्दरः देहः तनुः यस्य सः । त्रिलोकत्राणप्रवीणः = त्रयश्च ते लोकास्त्रिलोकाः, तेषां त्राणं रक्षणं 'त्रैङ्' पालने ततो ल्युट्, तत्र प्रवीणः कुशलः समर्थ इति यावत् । वीणया प्रगीयते इति णिजन्तात् कर्मणि घञ् । 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः' इत्यमरः । सुभटः = शूरः 'भटः स्यात् पुंसि वीरे च विशेषे पामरस्य च' इति मेदिनी । विधातुः = ब्रह्मणः । चुलुकात् = अञ्जलेः । आविरासीत् = प्रकटीबभूव ।

अत्र नवभिः श्लोकैः कुलकं समाप्तम् । पद्यमुक्तकयुग्मकुलककलापकादिबोधकलक्षणानि । तथा च—

"छन्दोबद्धपदं पद्यं तेनैकेन च मुक्तकम् ।
द्वाभ्यां युग्मञ्च सन्दानितकं त्रिभिरिहेष्यते ॥
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम् ॥
द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं, त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।
कलापकं चतुर्भिः स्यात्, तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥" इति ।

देहस्य जाम्बूनदेन सादृश्यादुपमा । सुभटशरीरे सुवर्णाचलशिलानिर्मितत्वस्य उत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा ।

अन्वयः—अथ हेमाचलस्य शिलाभिः कृत इव उदारजाम्बूनदचारुदेहः त्रिलोकत्राणप्रवीणः सुभटः विधातुः चुलुकाद् आविरासीत् ।

अनुवाद—तदनन्तर स्वर्णपर्वत सुमेरु (मेरुपर्वत) की शिलाओं से निर्मित सा, दमकते सोने सी सुन्दर देह कान्ति से युक्त, त्रैलोक्य की रक्षा में समर्थ एक वीर ब्रह्मा के चुलुक से प्रकट हुआ ।

भावार्थ—वह वीर स्वर्णाभ देह से युक्त था, उसकी दृढ़ता व्यक्त करने के लिये कवि ने उसे स्वर्णशिलानिर्मित कहा है ।

कोषः—'प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः' इत्यमरः ।

अलंकार—जाम्बूनद से देह के सादृश्य के कारण उपमा है। सुभट शरीर के सुवर्णाचल की शिला से निर्मित होने के उत्प्रेक्षण से उत्प्रेक्षा भी है ॥ ५५ ॥

सा दैत्यविनाशाय सन्नद्धोऽभूत्—

प्रस्थाप्य शक्रं द्युतिमान् भवेति, हर्षाश्रुपारिप्लवदृक्सहस्रम् ।
स शासनात्पङ्करुहासनस्य, मरुद्विपक्षक्षयदीक्षितोऽभूत् ॥ ५६ ॥

प्रस्थाप्येति—सः=वीरश्चालुक्यकुलमूलपुरुषः । पङ्करुहासनस्य=पद्मासनस्य ब्रह्मणः । शासनात्=आज्ञया । हर्षाश्रुपारिप्लवदृक्सहस्रम्=हर्षादुद्गतैरश्रुभिः पारिप्लवं चञ्चलं, दृशां सहस्रं यस्य तम्, हर्षाश्रुचञ्चलनेत्रसहस्रम् । शक्रं=देवराजम् । धृतिमान् भव=धृतिः धैर्यमस्ति अस्य सः धैर्यवान्, भव । इति समाश्वास्येति शेषः । (तमिन्द्रम्) प्रस्थाप्य=सम्प्रेष्य । मरुद्विपक्षक्षयदीक्षितः=मरुतां सुराणां विपक्षाः शत्रवो दानवास्तेषां क्षये विनाशे, दीक्षितः धृतसङ्कल्पः, दीक्षा सञ्जातास्येत्यर्थे 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' इतीतच् । अभूत्= बभूव । विधातुरादेशात् सुरेन्द्रं समाश्वास्य दैत्यविनाशाय कृतसङ्कल्पोऽभूदित्यर्थः ॥

अन्वयः—सः पङ्करुहासनस्य शासनात् हर्षाश्रुपारिप्लवदृक्सहस्रं शक्रं धृतिमान् भव इति प्रस्थाप्य मरुद्विपक्षक्षयदीक्षितः अभूत् ।

अनुवाद—उसने ब्रह्मा के आदेश से, हर्ष से भरे उठे तरल सहस्रनयनों वाले इन्द्र को धैर्य रखिए ऐसा कह कर विदा किया । और देवताओं के विरोधी दानवों के नाश (रूपी यज्ञ) में दीक्षा ली ।

भावार्थ—उस वीर ने ब्रह्मा के आदेश से दैत्यों के विनाश रूपी यज्ञ की दीक्षा ली । इससे आश्वस्त इन्द्र के सहस्र नयन हर्ष से तरल हो उठे ।

कोषः—'चञ्चलं चपलञ्चैव पारिप्लवपरिप्लवे' इत्यमरः । 'पङ्केरुहं तामरसं सारसं सरसीरुहम्' इत्यमरः ॥ ५६ ॥

तस्मात् मूलपुरुषात् चालुक्यवंशः प्रबभूव—

क्ष्माभृत्कुलानामुपरि प्रतिष्ठाम्, अवाप्य रत्नाकरभोगयोग्यः ।
क्रमेण तस्मादुदियाय वंशः, शौरेः पदाद् गाङ्ग इव प्रवाहः ॥ ५७ ॥

क्ष्माभृदिति—क्ष्माभृत्कुलानाम्=क्ष्मां पृथ्वीं, बिभ्रति धारयन्ति, ते क्ष्माभृतः पृथ्वीपालकाः पर्वता राजानश्च, तेषां कुलानि समूहा वंशाश्च, तेषाम् । उपरि=मूर्धनि । प्रतिष्ठाम्=सर्वातिशायि गौरवम् । अवाप्य=लब्ध्वा । रत्नाकरभोगयोग्यः=रत्नाकरः समुद्रस्तस्य भोगयोग्यः अन्यत्र रत्नानामाकरः समूहः रत्नराशिरिति यावत् । तेषां भोगः उपभोगस्तत्र योग्यः समर्थः । शौरेः= शूरस्यापत्यं पुमान् शौरिस्तस्य शौरेः वासुदेवस्य विष्णोरित्यर्थः । पदात्=चरणात् । गाङ्गः=गङ्गाया अयं गाङ्गः गङ्गासम्बन्धी । तस्येदमित्यणि रूपम् । प्रवाह इव=धाराप्रवाह इव । तस्मात्=आदिपुरुषात् । क्रमेण=क्रमशः । वंशः=चालुक्यान्वयः । 'वंशोऽन्ववायः सन्तानः' इत्यमरः । उदियाय=उद्बभूव । अत्र पूर्णोपमा ।

अन्वयः—क्ष्माभृत्कुलानामुपरि प्रतिष्ठामवाप्य रत्नाकरभोगयोग्यः शौरेः पदाद् गाङ्गः प्रवाह इव तस्मात् क्रमेण वंशः उदियाय ।

अनुवाद—क्ष्माभृत् (पर्वतों) के समूहों के ऊपर स्थिति को प्राप्तकर रत्नाकर (समुद्र के उपभोग योग्य श्री विष्णु के चरणारविन्द से निकले हुए गंगाप्रवाह के सदृश यह क्ष्माभृत् (राजाओं) के समूह के शीर्ष पर अवस्थिति प्राप्तकर, रत्नराशि के उपभोगयोग्य चालुक्य वंश उस आदि पुरुष से क्रमशः उदित हुआ ।

भावार्थ—जिस तरह भूधरराज हिमालय के शीर्ष पर स्थिति प्राप्तकर समुद्र से मिलने वाले गाङ्गप्रवाह का विष्णु के चरण से आविर्भाव हुआ, उसी प्रकार नृपतियों के शीर्षस्थ और रत्नराशि के अधिकारी चालुक्य वंश का आविर्भाव हुआ।

कोष:—'वंशोऽन्ववायः सन्तानः' इत्यमरः।

अलंकार—यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है॥ ५७॥

स वीरो मानव्यनाम्ना प्रथित इति वक्ति—

विपक्षवीराद्भुतकीर्तिहारी, हारीत इत्यादिपुमान् स यत्र।
मानव्यनामा च बभूव मानी, मानव्ययं यः कृतवानरीणाम्॥ ५८॥

विपक्षेति—यत्र = चालुक्यवंशे। आदिपुमान् = मूलपुरुषः। मानी = दर्पशीलः। अरीणां = द्विषाम्। मानव्ययं = गर्वक्षयम्। कृतवान् = व्यदधात्। सः, विपक्षवीराद्भुतकीर्तिहारी = विपक्षवीराणाम् = अरियोधानाम् अद्भुतां विस्मयकारिणीम् कीर्तिं यशो हरति, तच्छीलः 'हारीत' इति नाम्ना प्रसिद्धः। मानव्यनामा = मानव्यनामा च मानं व्यथत इति मानव्यो, विपूर्वकाद् 'अय् गतौ' धातोर्विचि 'लोपो व्योर्वली'ति यकारलोपे रूपम्। बभूव = अभूत्।

अन्वयः—यत्र आदिपुमान् यः मानी, अरीणां मानव्ययं कृतवान् सः, विपक्षवीराद्भुतकीर्तिहारी हारीत इति मानव्यनामा च बभूव।

अनुवाद—जिस चालुक्य वंश में वह मूल पुरुष शत्रुओं की आश्चर्यकारिणी कीर्ति को हर लेने के कारण हारीत—इस प्रकार तथा शत्रुओं का अभिमान नाश करने के कारण मानी जो 'मानव्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भावार्थ—चालुक्य वंश का वह मूलपुरुष 'हारीत' नाम से और 'मानव्य' उपाधि से प्रसिद्ध हुआ।

कोष:—'यशः कीर्तिः समज्ञा चे'त्यमरः॥ ५८॥

तद्वंशीयानां प्रतापशालित्वं वर्ण्यते—

मीलद्विलासालकपल्लवानि, विशीर्णपत्त्रावलिमण्डनानि।
मुखानि वैरिप्रमदाजनस्य, यद्भूपतीनां जगदुः प्रतापम्॥ ५९॥

मीलदिति—मीलद्विलासालकपल्लवानि = मीलद्विलासाः विलासरहिताः शोभाशून्याः अलकपल्लवाः केशपाशा येषु तानि। विशीर्णपत्त्रावलिमण्डनानि = विशीर्णानि म्लानानि नष्टानीति यावत् पत्त्रावलिमण्डनानि कुंकुमकस्तूरिकागुरुरञ्जितपत्त्रावलिरचनाः येषु तानि। वैरिप्रमदाजनस्य = शत्रुनृपयुवतिसमूहस्य। मुखानि = आननानि। यद्भूपतीनां = चालुक्यवंशोत्पन्नानां राज्ञाम्। प्रतापं = प्रभावं। जगदुः = सूचयन्तिस्म। शत्रुवधूनामलंकरणत्यागात् तत्पतीनां मरणं सूच्यते।

अन्वयः—मीलद्विलासालकपल्लवानि विशीर्णपत्त्रावलिमण्डनानि वैरिप्रमदाजनस्य मुखानि यद्भूपतीनां प्रतापं जगदुः।

अनुवाद—विलास अर्थात् सँवारने आदि संस्कारों से उत्पन्न शोभा से शून्य केशपाशों वाले (कुंकुम, कस्तूरी, गोरोचन आदि द्रव्यों से विरचित) पत्रावली के अलंकरण से रहित शत्रुनृपों की प्रमदाओं के मुख जिन राजाओं के प्रकोप बताते थे।

भावार्थ—केशविन्यास का परित्याग कर देने वाली, अलंकरणशून्य शत्रुवनिताओं के मुख उन शत्रु के मरण की सूचना देते थे।

कोष:—'विलासोऽङ्गे विशेषो यः प्रियाप्तावासनादिषु।' 'विलासो हावभेदे स्याल्लीलायामपि पुंस्ययम्' इति मेदिनी। 'अलका कुबेरपुर्यामस्त्रियां चूर्णकुन्तले' इति हैमः ॥ ५९ ॥

उत्खातविश्वोत्कटकण्टकानां, यत्रोदितानां पृथिवीपतीनाम्।
क्रीडागृहप्राङ्गणलीलयैव, बभ्राम कीर्तिर्भुवनत्रयेऽपि ॥ ६० ॥

उत्खातेति—यत्र=चालुक्यवंशे। उदितानां=प्रादुर्भूतानाम्। उत्खातविश्वोत्कटकण्टकानां=उत्खाताः विनाशिताः, विश्वस्मिन् उत्कटाः प्रचण्डाः, कण्टकाः क्षुद्रशत्रवः यैस्तेषाम्। पृथ्वीपतीनां=राज्ञाम्। कीर्तिः=यशः। भुवनत्रयेऽपि=लोकत्रयेऽपि। क्रीडागृहप्राङ्गणलीलयैव=क्रीडागृहस्य क्रीडागारस्य, यत् प्राङ्गणं=चत्वरम् तत्र या लीला क्रीडा, तया एव। बभ्राम=अनायासेनैव सर्वत्र प्रसरन्ती विचचार।

अन्वयः—यत्र उदितानाम् उत्खातविश्वोत्कटकण्टकानां पृथिवीपतीनां कीर्तिः क्रीडागृहप्राङ्गणलीलयैव भुवनत्रये अपि बभ्राम।

अनुवाद—उत्कट कंटकों को उखाड़ देने वाले जिस चालुक्य वंश में उत्पन्न राजाओं का यश तीनों लोकों में इस तरह अनायास फैल गया कि जैसे क्रीडागृह के आँगन में फैल रहा हो।

भावार्थ—चालुक्य वंश में उत्पन्न राजाओं ने अनायास ही समस्त शत्रु राजाओं का उन्मूलन कर दिया। अतः उनकी कीर्ति प्रसार के लिये त्रैलोक्य क्रीडागार के प्रांगण सरीखा लघु हो गया।

कोष:—'कण्टकः क्षुद्रशत्रौ च कर्मस्थानकदोषयोः। रोमाञ्चे च द्रुमाङ्गे च कण्टको मत्करेऽपि च' इति विश्वः ॥ ६० ॥

यत्पार्थिवैः शत्रुकठोरकण्ठ-पीठास्थिनिर्लोठनकुण्ठधारः।
निन्ये कृपाणः पटुतां तदीय--कपालशाणोपलपट्टिकासु ॥ ६१ ॥

यदिति—यत्पार्थिवैः=यस्मिन् पार्थिवास्तैः यत्पार्थिवैः यद्वंशजैर्नृपैः। शत्रुकठोरकण्ठपीठास्थिनिर्लोठनकुण्ठधारः=शत्रूणां कठोरकण्ठास्तेषां पीठास्थीनि तेषु शत्रुकठोरकण्ठपीठास्थिषु अरिग्रीवास्थिषु निर्लोठनेन खण्डनेन कुण्ठा प्रतिहता, धारा तीक्ष्णाग्रभागो यस्य सः। कृपाणः=निस्त्रिंशः तदीयकपालशाणोपलपट्टिकासु=तेषाम् इमानि तदीयानि शत्रुसम्बन्धीनि, कपालानि कपालास्थीनि एव शाणोपलपट्टिकाः घर्षणपाषाणाः, तासु। पटुतां=तैक्ष्ण्यम्। निन्ये=नीतः। कपालोपरि शाणोपलपट्टिकात्वारोपाद् रूपकम्। कण्ठे पीठाभेदाच्च रूपकम्।

अन्वयः—यत्पार्थिवैः शत्रुकठोरकण्ठपीठास्थिनिर्लोठन-कुण्ठधारः कृपाणः, तदीयकपालशाणोपलपट्टिकासु पटुतां निन्ये।

अनुवाद—जिस चालुक्यवंश के राजाओं ने शत्रुओं के कण्ठों की कठोर अस्थियों को काटने से कुण्ठित धारवाले कृपाण को उन्हीं के शिरोस्थि रूप सान के पत्थर पर तेज़ किया।

भावार्थ—चालुक्य राजाओं ने शत्रुओं का घोर संहार किया।

कोषः—'स्यात् कर्परः कपालोऽस्त्री' इत्यमरः। 'कीकसं कुल्यमस्थि च' इत्यमरः।

अलंकार—कपाल पर सान की शिलापट्टिका का आरोपण करने से रूपक अलङ्कार है। कण्ठ में पीठ का अभेद होने से यहाँ पर भी रूपक ही होगा ॥ ६१ ॥

चालुक्यवंशनृपतयोऽयोध्यायां स्वनिवासं चक्रुरिति वक्तुमुपक्रमते—

निरादरश्चन्द्रशिखामणौ यः प्रीतेऽपि लोकत्रितयैकवीरः।
क्षिपन् कृपाणं दशमेऽपि मूर्ध्नि, स्वयं धृतः क्ष्माधरराजपुत्र्या ॥ ६२ ॥

निरादर इति—लोकत्रितयैकवीरः=त्रयो अवयवा अस्येति त्रितयम्, त्रिशब्दात् 'संख्याया अवयवे तयप्' इति तयप्, लोकानां त्रितयं तस्मिन् एकश्चासौ वीरः एकवीरः 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' इति समासः, लोकत्रितयैकवीरः त्रिभुवनैकशूरः। चन्द्रशिखामणौ=चन्द्रः शिखामणिर्यस्य तस्मिन्, चन्द्रशेखरे शिवे। प्रीतेऽपि=प्रसन्नेऽपि। यः=रावणः। निरादरः=शिवप्रसादमगणयन्। अत एव, दशमेऽपि मूर्ध्नि=दशमेऽपि मस्तके, दशानां पूरणः-दशमः, अत्र दशन्शब्दात् 'तस्य पूरणे डट्' इति 'डट्' प्रत्ययः 'नान्तादसंख्यादेर्मट्' इति डटो मडागमः, ततो नलोपः। कृपाणं=निस्त्रिंशम्। 'खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः। कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्' इत्यमरः। क्षिपन्=पातयन्। स्वयं=स्वत एव। क्ष्माधरराजपुत्र्या=क्ष्माधराणां राजा-क्ष्माधरराजः, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच् 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः, हिमालयस्तस्य पुत्री तया, क्ष्माधरराजपुत्र्या भूधरराजसुतया पार्वत्या। धृतः=निवारितः।

अन्वयः—लोकत्रितयैकवीरः चन्द्रशिखामणौ प्रीतेऽपि यः निरादरः दशमेऽपि मूर्ध्नि कृपाणं क्षिपन् स्वयं क्ष्माधरराजपुत्र्या धृतः।

अनुवाद—चन्द्रशेखर शिव के प्रसन्न होने पर भी असन्तुष्ट अपने दसवें मस्तक पर खड्गप्रहार करते त्रिभुवन में अद्वितीय वीर रावण को पर्वतराजपुत्री पार्वती ने स्वयं रोका।

भावार्थ—अयोध्या को चालुक्यवंशीयों ने अपनी निवासभूमि बनायी—यह बताने के उपक्रम में यह श्लोक कवि ने प्रस्तुत किया है।

कोषः—'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः। 'खड्गे तु निस्त्रिंश चन्द्रहासासिरिष्टयः। कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्' इत्यमरः ॥ ६२ ॥

प्रसाध्य तं रावणमध्युवास, यां मैथिलीशः कुलराजधानीम्।
ते क्षत्रियास्तामवदातकीर्तिं, पुरीमयोध्यां विदधुर्निवासम् ॥ ६३ ॥

प्रसाध्येति—मैथिलीशः=मैथिल्याः सीताया ईशः पतिः रामचन्द्रः। तं रावणं प्रसाध्य=जित्वा। यां कुलराजधानीं=सूर्यकुलक्षत्रियराजधानीम्। अध्युवास=उषितवान् 'उपान्वध्याङ्

वसः' इत्याधारस्य कर्मत्वम् । इति । ते=चालुक्यवंशोत्पन्नाः । क्षत्रियाः=राजन्याः, 'क्षतात् त्रायते' इति क्षत्रः, तस्य जातौ भव इत्यर्थे 'घ' प्रत्ययः, घस्य इयादेशः, 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' इति सूत्रेण । 'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः । अवदातकीर्तिम्=अवदाता कीर्तिर्यस्यास्ताम् अवदातकीर्तिं धवलकीर्तिम् । 'अवदातः सितो गौरो धवलः' इत्यमरः । तां=प्रसिद्धामित्यर्थः । अयोध्यां पुरीं=नगरीम्, निवासं । विदधुः= चक्रुः । ते अयोध्यां राजधानीं चक्रुरित्यर्थः ।

अन्वयः—मैथिलीशः तं रावणं प्रसाध्य यां कुलराजधानीं अध्युवास ते क्षत्रियाः अवदातकीर्तिं तामयोध्यां पुरीं निवासं विदधुः ।

अनुवाद—उस रावण को वैदेही के पति राम ने जीतकर सूर्यवंशीय क्षत्रियों की जिस राजधानी में निवास किया था, उसी धवलकीर्ति अयोध्या में इन क्षत्रियों ने भी निवास बनाया ।

भावार्थ—रावण को मार कर भगवान् राम ने जिस अयोध्या में निवास किया, उसी पवित्र नगरी में चालुक्यनरेशों का निवास था ।

कोषः—'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः ॥ ६३ ॥

तदनन्तरं विजिगीषुभिस्तै जगज्जित्वा दक्षिणदेशे पदं कृतमिति वर्णयति—

जिगीषवः केऽपि विजित्य विश्वं, विलासदीक्षारसिकाः क्रमेण ।
चक्रुः पदं नागरखण्डचुम्बिपूगद्रुमायां दिशि दक्षिणस्याम् ॥ ६४ ॥

जिगीषव इति—जिगीषवः=जेतुमिच्छवः जिगीषवः विजयेच्छुकाः, सन्नन्ताज्जिधातोः 'सनाशंसभिक्ष उः' इति उप्रत्ययः, प्रथमाबहुवचने रूपम् । केऽपि=राजानः । विश्वं=निखिलां धरित्रीम् । विजित्य=जित्वा, विपूर्वकात् जिधातोः क्त्वाप्रत्ययस्तस्य स्थाने 'ल्यप्' आदेशः । क्रमेण=अनुक्रमेण । विलासदीक्षारसिकाः=विलासदीक्षानुरागिणः । नागरखण्डचुम्बिपूगद्रुमायाम्=नागरखण्डचुम्बिनः नागवल्लीवेष्टिताः पूगद्रुमाः क्रमुकवृक्षाः, यस्यान्तस्याम् । नागरखण्डचुम्बिनः इत्यस्य नागवल्लीवेष्टिता इत्याशयः प्रतीयते । नागवल्ली समुद्रतीरजा वृक्षजा कृष्णा ताम्बूलवल्लीतिनामभिः व्यवहारः क्रमुकपदसान्निध्याद् विलासदीक्षारसिकाः-पदसान्निध्याच्च सैव नागरशब्देन गृहीता इति प्रतीयते । नात्र कोषप्रामाण्यम् । 'नागरं मुस्तके शुण्ठ्यां विदग्धे नगरोद्भवे' इति मेदिनी 'घोण्टा तु पूगः क्रमुको गुवाकः खपुरः' इत्यमरः । दक्षिणस्यां दिशि=याम्यायां ककुभि । पदं चक्रुः=स्थानं कृतवन्तः, तत्र न्यवसन्नित्यर्थः ।

अन्वयः—जिगीषवः केऽपि विश्वं विजित्य क्रमेण विलासदीक्षारसिकाः नागरखण्डचुम्बिपूगद्रुमायां दक्षिणस्यां दिशि पदं चक्रुः ।

अनुवाद—विजिगीषु किन्हीं राजाओं ने विश्व की विजय के क्रम से पान की बेलों से आलिंगित सुपारी के वृक्षों से युक्त दक्षिण दिशा में अपना निवास स्थान बनाया ।

भावार्थ—विजिगीषु चालुक्यों ने विश्वविजय किया और विलासरसिक होने के कारण दक्षिण देश में निवास किया ।

कोषः—'घोण्टा तु पूगः क्रमुको गुवाकः खपुरः' इत्यमरः ॥ ६४ ॥

दक्षिणदेशविजयवर्णनमारभते—

तदुद्भवैर्भूपतिभिः सलीलं, चोलीरहःसाक्षिणि दक्षिणाब्धेः ।
करीन्द्रदन्ताङ्कुरलेखनीभिः अलेखि कूले विजयप्रशस्तिः ॥ ६५ ॥

तद्भिति—तदुद्भवैः = तेभ्यो भूपेभ्यः उद्भवो जन्म येषान्तैस्तत्सन्ततिभिः । भूपतिभिः = नृपतिभिः । दक्षिणाब्धेः = दक्षिणसमुद्रस्य । चोलीरहःसाक्षिणि = चोलीनां चोलदेशाङ्गनानाम्, अत्र काव्ये कविना चालुक्यनृपतिभिः चोलदेशविजयवर्णनमुपनिबद्धम् इतिहाससिद्धं प्रामाणिकं वृत्तम्, रहः एकान्तविलासस्तस्य साक्षि द्रष्टृ तस्मिन् । कूले = तटे । 'कूलं रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु' इत्यमरः । 'रदना दशना दन्ता रदा' इत्यमरः । करीन्द्रन्दताङ्कुरलेखनीभिः = करीन्द्राणां गजेन्द्राणां दन्तङ्कुराः दन्तप्ररोहा एव लेखन्यः ताभिः । विजयप्रशस्तिः = विजयप्रशंसा । सलीलं = = लीलया सह यथा स्यात् तथा । क्रियाविशेषणं, क्लीबत्वादिकं च, यथाह–'द्वितीयान्तत्वकर्मत्वे क्लीबत्वञ्च तथैकता। क्रियाविशेषणस्यैवं मतं सूरिभिरादरात् ॥' अलेखि = लिखिता, कर्मणि लुङि रूपम् । अत्र रूपकालङ्कारः ॥

अन्वयः—तदुद्भवैः भूपतिभिः दक्षिणाब्धेः चोलीरहःसाक्षिणि कूले करीन्द्रदन्ताकुरलेखनीभिः विजयप्रशस्तिः सलीलम् अलेखि ।

अनुवाद—चालुक्य राजाओं ने चोलयुवतियों के रहस्य (विलास) के साक्षी दक्षिण समुद्र के तटपर गजराजों की दन्त रूप लेखनियों से अपनी विजयप्रशस्ति अनायास लिखी ।

भावार्थ—चोलदेश की जययात्रा में चालुक्यों की गजवाहिनी ने अनायास विजय प्राप्त की ।

कोषः—'कूलं रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु' इत्यमरः ।

अलंकार—करीन्द्रदन्तांकुर पर 'लेखनीत्व' का आरोप होने से रूपक अलंकार है ॥६५॥

द्वीपक्षमापालपरम्पराणां, दोर्विक्रमादुत्खननोन्मुखास्ते ।
विष्णोः प्रतिष्ठेति विभीषणस्य, राज्ये परं सङ्कुचिता बभूवुः ॥ ६६ ॥

द्वीपेति—दोर्विक्रमाद् = दोष्णां बाहूनां विक्रमः शौर्यं तस्मात् । 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः । द्वीपक्षमापालपरम्पराणाम् = जलमध्ये स्वत उत्थितः भूभागो द्वीपः, 'द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम्' इत्यमरः, तत्र क्षमापालानां राज्ञां परम्पराः समूहास्तासाम् । उत्खननोन्मुखाः = उत्खननायोन्मूलनाय उन्मुखास्तत्पराः । ते = चालुक्यवंशजा क्षत्रियाः । विभीषणस्य = रावणानुजस्य । राज्ये = लङ्कायाम् । विष्णोः प्रतिष्ठा इति = रामस्य स्थितिरिति हेतोः । परं = केवलं, सङ्कुचिता बभूवुः = तत्र विजयाय न जग्मुः । लङ्कां विहाय सर्वे द्वीपाः स्वायत्तीकृता इत्यर्थः ।

अन्वयः—दोर्विक्रमाद् द्वीपक्षमापालपरम्पराणाम् उत्खननोन्मुखास्ते विभीषणस्य राज्ये विष्णोः प्रतिष्ठा इति परं सङ्कुचिता बभूवुः ।

अनुवाद—बाहुपराक्रम से द्वीप-द्वीपान्तर के राजाओं के उन्मूलन में तत्पर वे विभीषण

के राज्य में विष्णु (राम) की अवस्थिति है यह सोचकर (लंका विजय से) संकुचित हो गये।

भावार्थ—चालुक्य नृपतियों ने समुद्रसन्तरण कर द्वीपों पर विजय भी प्राप्त की, किन्तु लंका की विजययात्रा नहीं की, क्योंकि भगवान् राम ने वहाँ विभीषण को राज्य दिया था। वहाँ न जाने में भगवान् राम की मर्यादा का ही ध्यान था।

कोषः—'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः ॥ ६६ ॥

समुद्रादारभ्य हिमाचलं यावत् प्रदेशः स्वायत्तीकृत इति वर्णयति—

द्वीपेषु कर्पूरपरागपाण्डुष्वासाद्य लीलापरिवर्तनानि ।
भ्रान्त्या तुषाराद्रितटे लुठन्तः, शीतेन खिन्नास्तुरगा यदीयाः ॥ ६७ ॥

द्वीपेष्विति—यदीयास्तुरगाः = येषामिमे यदीयाः चालुक्यराजसम्बन्धिनस्तुरगा घोटकाः। कर्पूरपरागपाण्डुषु = कर्पूरपरागैः घनसारचूर्णैः पाण्डुषु धवलेषु शुभ्रेषु द्वीपेषु जलमध्ये स्वतः समुत्थितभूभागेषु। लीलापरिवर्तनानि = क्रीडयाङ्गपरिवर्तनानि। आसाद्य = अनुभूय। हिमाचलप्रान्तमागतास्तत्र हिमधवलं नगाधिराजमवलोक्य भ्रान्त्या = धवलत्वात् कर्पूरभ्रमेण। तुषाराद्रितटे = हिमालयप्रान्तदेशे। लुठन्तः = अङ्गपरिवर्तनानि कुर्वन्तः। शीतेन = शीतलतया। खिन्नाः = पीडिता बभूवुः। तुषाराद्रितटे कर्पूरशुभ्रवर्णद्वीपभ्रान्तिनिरूपणात् भ्रान्तिमानलङ्कारः। 'साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः।' इति लक्षणम्।

अन्वयः—यदीयास्तुरगाः कर्पूरपरागपाण्डुषु द्वीपेषु लीलापरिवर्तनानि आसाद्य भ्रान्त्या तुषाराद्रितटे लुठन्तः शीतेन खिन्नाः (बभूवुः)।

अनुवाद—उनके अश्व कर्पूर के चूर्ण से श्वेत द्वीपों में क्रीडा से लोटकर (हिम में कर्पूर की) भ्रान्ति से हिमालय के तट प्रदेश में लोटने पर शीत से खिन्न हो गये।

भावार्थ—चालुक्यनरेशों ने सागर से लेकर हिमालयपर्यन्त पृथ्वी की विजय की।

कोषः—'लीलां विदुः केलिविलासखेलाशृङ्गारभावप्रभवक्रियासु' इति विश्वः।

अलंकार—तुषाराद्रि के तट पर हिम की तरह धवल कर्पूरचूर्ण से शुभ्रद्वीप की भ्रान्ति का वर्णन होने से भ्रान्तिमान् अलंकार है ॥ ६७ ॥

श्रीतैलपो नाम नृपः प्रतापी, क्रमेण तद्वंशविशेषकोऽभूत्।
क्षणेन यः शोणितपङ्कशेषं, सङ्ख्ये द्विषां वीररसञ्चकार ॥ ६८ ॥

श्रीति—प्रतापी = प्रभाववान्। 'स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोपदण्डजम्' इत्यमरः। प्रतापशब्दात् 'अत इनिठनौ' इति इन् प्रत्ययः। प्रथमैकवचने रूपम्। श्रीतैलपो नाम = श्रीतैलप इति प्रसिद्धः। नृपः = राजा। क्रमेण = अनुक्रमेण तद्वंशविशेषकः = चालुक्यवंशतिलकः। अभूत् = बभूव। यः = तैलपः। सङ्ख्ये = युद्धे। क्षणेन = मुहूर्तेन। 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्यमरः। द्विषां = शत्रूणाम्। वीररसम् = वीराख्यं रसमुत्साहमित्यर्थः, जलम् च। शोणितपङ्कशेषम् = शोणितपङ्क एव शेषः = अवशेषो यस्य तम्। 'पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ' इत्यमरः। यथा जले विलीने पङ्क एवावशिष्यते तथा, शत्रुषु निहतेषु तेषामुत्साहः विलीनस्तच्छोणितपङ्क एवावशिष्ट इत्याशयः। चकार = कृतवान् ॥

अन्वयः—प्रतापी श्रीतैलपो नाम नृपः क्रमेण तद्वंशविशेषकः अभूत्, यः सङ्ख्ये क्षणेन द्विषां वीररसं शोणितपङ्कशेषं चकार।

अनुवाद—क्रमशः श्रीतैलप नामक नृपति चालुक्यकुल के तिलक हुए। जिन्होंने युद्ध में थोड़े समय में ही शत्रुओं के वीररस को शोणितरूपी पंक (कीचड़) के रूप में ही शेष कर दिया।

भावार्थ—श्रीतैलप ने युद्ध में शत्रु का संहार किया। जिस प्रकार जल सूख जाने पर कीचड़ ही रह जाता है, उसी प्रकार शत्रुओं का वीररस अर्थात् शौर्य तथा उत्साह शोणितपंक के रूप में ही बचा, वे तो मर कर विलीन हो गये।

कोषः—'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्यमरः॥ ६८॥

चालुक्यनृपतिभिर्यथा चोलवंशीया राजानो जितास्तथैव श्रीतैलपेन राष्ट्रकूटा अपीति वर्ण्यते—

विश्वम्भरा-कण्टकराष्ट्रकूट-समूल-निर्मूलनकोविदस्य।
सुखेन यस्यान्तिकमाजगाम चालुक्यचन्द्रस्य नरेन्द्रलक्ष्मीः॥ ६९॥

विश्वम्भरेति—चालुक्यचन्द्रस्य=चालुक्यश्चन्द्र इव, इत्युपमानोत्तरपदतत्पुरुषः, प्रजाह्लादकस्य। विश्वम्भराकण्टकराष्ट्रकूटसमूल-निर्मूलनकोविदस्य=विश्वं बिभर्ति सा विश्वंभरा पृथ्वी, तस्याः कण्टक इव यो राष्ट्रकूटः धरित्रीवासिप्रजाकष्टप्रदो राष्ट्रकूटनामा राजवंशविशेषस्तस्य समूलनिर्मूलने विनाशकर्मणि कोविदस्य निपुणस्य। यस्य-तैलपस्य। अन्तिकं=समीपे। नरेन्द्रलक्ष्मीः=राजलक्ष्मीः। सुखेन=अनायासेन। 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति तृतीया। आजगाम=आगता। राष्ट्रकूटकुलक्षये सति राजश्रीरेनं तैलपं वरयामास।

अन्वयः—चालुक्यचन्द्रस्य विश्वंभराकण्टकराष्ट्रकूटसमूलनिर्मूलनकोविदस्य यस्य अन्तिकं नरेन्द्रलक्ष्मीः सुखेन आजगाम।

अनुवाद—पृथ्वी के कंटक सरीखे राष्ट्रकूट नामक राजवंश को समूलतया निर्मूल करने में कुशल, चालुक्यचन्द्र जिस तैलप राजा के समीप राष्ट्रकूट-राजलक्ष्मी अनायास ही आ पहुँची।

भावार्थ—चालुक्यवंशीय नरेशों में श्रीतैलप ने राष्ट्रकूटराजाओं का उन्मूलन किया।

कोषः—'भूर्भूमिरचलानन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा' इत्यमरः।

अलंकार—'विश्वम्भराकण्टक' राष्ट्रकूटों की तुलना कण्टक से करने के कारण उपमा है॥ ६९॥

श्रीतैलपशौर्यवर्णनमेव प्रस्तौति—

शौर्योष्मणा स्विन्नकरस्य यस्य, सङ्ख्येषु खड्गः प्रतिपक्षकालः।
पुरन्दर-प्रेरित-पुष्पवृष्टि-पराग-सङ्गान्निबिडत्वमाप॥ ७०॥

शौर्येति—सङ्ख्येषु=युद्धेषु। शौर्योष्मणा=शौर्यस्य विक्रमस्य ऊष्मा दर्पस्तेन। स्विन्नकरस्य=स्विन्नः करो यस्य तस्य स्विन्नकरस्य स्वेदार्द्रपाणेः। यस्य=तैलपस्य। प्रतिपक्षकालः=प्रतिपक्षाणाम् अरीणां, कालः मृत्युः। खड्गः=कृपाणः। पुरन्दरप्रेरितपुष्पवृष्टिपरागसङ्गात्=पुरन्दरेण इन्द्रेण प्रेरिता प्रवर्तिता या पुष्पवृष्टिः=कुसुमवर्षा, तस्याः परागसङ्गात् परागसम्बन्धात्। निबिडत्वं=दृढत्वम्। आप=प्राप। शौर्ये ऊष्माभेदात्खड्गे प्रतिपक्षकालाऽभेदाच्च रूपकम्।

अन्वयः—सङ्ख्येषु शौर्योष्मणा स्विन्नकरस्य यस्य प्रतिपक्षकालः खड्गः पुरन्दरप्रेरितपुष्पवृष्टिपरागसङ्गात् निबिडत्वम् आप।

अनुवाद—युद्धों में शौर्यरूप ऊष्मा से पसीने के कारण आर्द्र हाथों वाले जिस श्रीतैलप का शत्रुओं के लिए कालरूप कृपाण इन्द्र द्वारा प्रेरित पुष्पवर्षा के पराग से दृढता को प्राप्त हुआ।

भावार्थ—युद्ध में शौर्यतेज के कारण तैलप का हाथ स्वेद से आर्द्र हो जाता था। इस शौर्य की प्रशंसा में जब इन्द्र पुष्पवृष्टि कराते थे, तो उसको पराग धूलि से कृपाण पर की पकड़ दृढ हो जाती थी।

कोषः—'पुरुहूतः पुरन्दरः' इत्यमरः। 'परागः सुमनोरजः' इत्यमरः।

अलंकार—शौर्य से ऊष्मा के अभेद और खड्ग से प्रतिपक्षकाल के अभेद के कारण रूपक अलंकार है ॥ ७० ॥

यस्याञ्जनश्यामलखड्गपट्ट-जातानि जाने धवलत्वमापुः।
अरातिनारीशरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलीनिर्लुठनाद्यशांसि ॥ ७१ ॥

यस्येति—यस्य=श्रीतैलपस्य राज्ञः। अञ्जनश्यामलखड्गपट्टजातानि=अंजन इव श्यामलः, उपमानपूर्वपदकर्मधारयः, कृष्णो यः खड्गपट्टः निस्त्रिंशः तस्माज्जातानि समुत्पन्नानि। यशांसि=कीर्तयः। अरातिनारीशरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलीनिर्लुठनात्=अरातीनामरीणां, नार्यः रमण्यस्तासां शरकाण्डवत् तेजनकदण्ड इव, 'गुन्द्रस्तेजनकः शरः' इत्यमरः, पाण्डवः गौराः, या गण्डस्थल्यः कपोलदेशास्तासु निर्लुठनात् सम्पर्कात्। धवलत्वं=शुक्लत्वम्। आपुः=प्रापुः। इत्यहं जाने=मन्ये। यशसां धवलत्वमिति कविसमयः। 'मालिन्यं व्योम्नि पापे यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः' इति प्रसिद्धिः। अञ्जनेन सह खड्गस्य श्यामलत्वेन सादृश्यदर्शनाद् गण्डस्थल्याः पाण्डुत्वेन शरकाण्डेन सादृश्याच्चोपमालङ्कारः। श्यामलखड्गजनितयशसः शुक्लत्वस्य अरातिनारीशरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलीनिर्लुठनस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा च।

अन्वयः—यस्य अञ्जनश्यामलखड्गपट्टजातानि यशांसि अरातिनारीशरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलीनिर्लुठनात् धवलत्वम् आपुः (इति) जाने।

अनुवाद—जिसकी कीर्ति कज्जल के समान कृष्णवर्ण कृपाण से उत्पन्न होनेपर भी शत्रु नारियों के सरकण्डे के सदृश गौरवर्ण कपोलों के सम्पर्क से श्वेतवर्ण हुई—ऐसा लगता है।

भावार्थ—कृष्णखड्गरूपी कारण से जनित यशरूपी कार्य धवल इसलिये हो गया कि शत्रुनारियों के गौरकपोलों का स्पर्श पा गया था। श्वेत चूर्ण में यदि श्याम वस्तु लपेट दें, तो वह श्वेत दिखेगी ही।

कोषः—'गुन्द्रस्तेजनकः शरः' इत्यमरः।

अलंकार—अंजन के साथ खड्ग की तुलना और शरकाण्ड से कपोल के सादृश्य के कारण दोनों स्थलों पर उपमा है। श्यामल खड्ग से उत्पन्न यश की धवलिमा में शरकाण्डपाण्डुकपोल पर निर्लुठन को हेतुरूप में उत्प्रेक्षित करने से हेतूत्प्रेक्षा है ॥ ७१ ॥

स्फूर्जद्यशोहंसविलासपात्रम्, निस्त्रिंशनीलोत्पलमुत्प्रभं यः ।
उत्तंसहेतोरिव वीरलक्ष्म्याः, संग्रामलीलासरसश्चकर्ष ॥ ७२ ॥

स्फूर्जदिति—यः = श्रीतैलपः । उत्प्रभम् = उद्गता प्रभा यस्य तत् । 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्ये'ति ह्रस्वः । स्फूर्जद्यशोहंसविलासपात्रं = स्फूर्जतीति स्फूर्जत्, शतृप्रत्ययान्तं रूपं, प्रवर्धमानं यद् यशस्तदेव हंसस्तस्य विलासपात्रं क्रीडास्थानम् । निस्त्रिंशनीलोत्पलम् = निर्गतस्त्रिंशद्भ्योऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः, 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति पञ्चमीतत्पुरुषः, समासान्तोऽच्-प्रत्ययः, स एव नीलोत्पलन्तत् खड्गरूपं नीलाम्बुजातम् । संग्रामलीलासरसः = संग्रामः युद्धम् एव लीलासरः क्रीडासरोवरं तस्मात् । वीरलक्ष्म्याः = वीरश्रियः । उत्तंसहेतोः = उत्तंसः कर्णाभरणं तस्य हेतोः कारणात् इव । 'पुंस्युत्तंसावतंसौ द्वौ कर्णपूरे च शेखरे' इत्यमरः । चकर्ष = उज्जहार । संग्रामे लीलासरोऽभेदः । यशसि हंसाऽभेदः, शुक्लत्वसाम्यात् । अभेदौ इमौ निस्त्रिंशाऽभेदापन्ननीलोत्पले हंसविलासपात्रत्वारोपे हेतुत्वेन स्वीकृताविति परम्परितरूपकम् । खड्गकर्षणे लक्ष्म्या उत्तंसकरणस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणात् हेतूत्प्रेक्षा ।

अन्वयः—यः उत्प्रभं स्फूर्जद्यशोहंसविलासपात्रं निस्त्रिंशनीलोत्पलं संग्रामलीलासरसः वीरलक्ष्म्याः उत्तंसहेतोः इव चकर्ष ।

अनुवाद—जिस (तैलपराज) ने कान्ति बिखेरते, वर्द्धमान अपने यशरूपी हंस की क्रीडा का स्थान बने हुए खड्गरूपी नीलकमल को, युद्धरूपी क्रीडा-सरोवर से वीरलक्ष्मी के कर्णाभूषण के लिए ही मानो खींच लिया ।

भावार्थ —यश श्वेत माना गया है, अतः उसे हंसरूप से वर्णित किया गया है । कृपाण श्याम होता है, अतः उसे नीलकमलरूप कहा गया है और युद्ध को सरोवररूप । संग्राम में कृपाण खींचा गया, मानो कृपाणरूप नीलकमल को राजलक्ष्मी का कर्णावतंस बनाना था ।

कोष:—'पुंस्युत्तंसावतंसौ द्वौ कर्णपूरे च शेखरे' इत्यमरः ।

अलंकार—संग्राम में लीलासरोवर का अभेद है । यश में हंस का अभेद है । ये दोनों अभेद निस्त्रिंश से अभिन्न नीलकमल पर हंसविलासपात्रत्व के आरोप के हेतु माने गये हैं । अतः परम्परित रूपक अलंकार है । निस्त्रिंशरूपी नीलोत्पल को खींचने का हेतु राजलक्ष्मी का उत्तंसकरण उत्प्रेक्षित है, अतः उत्प्रेक्षा भी है ॥ ७२ ॥

विधाय सैन्यं युधि साक्षिमात्रं, दासीकृतायाः प्रतिपक्षलक्ष्म्याः ।
यः प्रातिभाव्यार्थमिवाजुहाव, महाभुजः शत्रुनरेन्द्रकीर्तिम् ॥ ७३ ॥

विधायेति—महाभुजः = महाबाहुः, महान्तौ भुजौ यस्येति बहुव्रीहिः । 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' इति महतस्तकारस्याकारः, सवर्णदीर्घः । यः = श्रीतैलपः । युधि = युद्धे । सैन्यं = सेनाम् । साक्षिमात्रम् = साक्षि एवेति साक्षिमात्रं, साक्षिमात्रमिति अवधारणोत्तरपदकर्मधारयः । 'मात्रा कर्णविभाषायां वित्तमाने परिच्छदे । अक्षरावयवे स्वल्पे क्लीबं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इति कोषः । विधाय = कृत्वा, केवलं साक्षितां संस्थाप्य, साहाय्यं विनैवेत्यर्थः । दासीकृतायाः-अदासी दासी कृता, तस्या दासीकृतायाः दास्यतां नीतायाः । प्रतिपक्षलक्ष्म्याः = शत्रु-

राज्यश्रियः । प्रतिभाव्यार्थं = प्रतिभूः प्रतिलग्नकः तस्य भावः प्रातिभाव्यं तदर्थमिव । शत्रुनरेन्द्राणां = मरातिभूपालानां । कीर्तिं = यशः । आजुहाव = आकारयामास । अत्र प्रातिभाव्यार्थमिवेत्युत्प्रेक्षा ।

अन्वयः—महाभुजः यः युधि सैन्यं साक्षिमात्रं विधाय दासीकृतायाः प्रतिपक्षलक्ष्म्याः प्रातिभाव्यार्थमिव शत्रुनरेन्द्रकीर्तिम् आजुहाव ।

अनुवाद—महाबाहु जिसने युद्ध में अपनी सेना को केवल साक्षी रखकर (अर्थात् सेना की सहायता के विना) दासी बना ली गयी शत्रु की राजलक्ष्मी के जामिन के रूप में ही मानो शत्रुराजाओं की कीर्ति का आह्वान किया ।

भावार्थ—युद्ध करते हुए उसने सैन्य की सहायता न लेकर अकेले ही विजयश्री प्राप्त की । शत्रु की लक्ष्मी के साथ शत्रु की कीर्ति भी उसके पास ही आ गयी ।

कोषः—'मात्रा कर्णविभूषायां वित्ते माने परिच्छदे । अक्षरावयवे स्वल्पे क्लीबं कात्स्न्र्येऽवधारणे' इति कोषः ।

अलंकार—शत्रुराजाओं की कीर्त्ति के आह्वान में प्रतिभूत्व को फलरूप में उत्प्रेक्षित करने के कारण उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ७३ ॥

श्रीतैलपानन्तरं सत्याश्रयो बभूव—

चालुक्यवंशामलमौक्तिकश्रीः, सत्याश्रयोऽभूदथ भूमिपालः ।
खड्गेन यस्य भ्रुकुटिक्रुधेव, द्विषां कपालान्यपि चूर्णितानि ॥ ७४ ॥

चालुक्येति—अथ = अनन्तरम् । चालुक्यवंशामलमौक्तिकश्रीः = चालुक्यवंशेऽमलमौक्तिकस्य चालुक्यकुले मुक्ताफलस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य सः वंशः = कुलं वेणुश्च, वेणुजामलमौक्तिकस्य कान्तिः चालुक्यवंशजन्मेत्यर्थः । सत्याश्रयः = सत्याश्रयनामा । भूमिपालः = नृपः । अभूत् = बभूव । यस्य = नृपस्य । भ्रुकुटिक्रुधा = क्रोधादिना भृकुटिसंकोचनेनेव । 'भ्रकुटिर्भृकुटिर्भ्रूकुटिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । 'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियाम्' इत्यमरः । खड्गेन = निस्त्रिंशेन, खण्ड्यतेऽनेनेति खड्गः, 'खडि' भेदने धातोः 'छापूखडिभ्यः कित्' इति गन् प्रत्यये रूपम् 'खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः । कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्' इत्यमरः । द्विषाम् = अरीणाम् । कपालानि अपि चूर्णितानि = शिरोऽस्थिखण्डान्यपि चूर्णितानि । खड्गे भ्रुकुटिक्रोधस्योत्प्रेक्षणात् वस्तूत्प्रेक्षा । वंशे वेणुत्वारोपो राजनि मौक्तिकत्वारोपे कारणमिति परम्परितरूपकम् ।

अन्वयः—अथ चालुक्यवंशामलमौलिकश्रीः सत्याश्रयः भूमिपालः अभूत्, यस्य भ्रुकुटिक्रुधा इव खड्गेन द्विषां कपालानि अपि चूर्णितानि ।

अनुवाद—तदनन्तर चालुक्यवंश में निर्मल मौक्तिक की सी शोभा से युक्त सत्याश्रय नामक राजा हुआ । जिसने मानो भ्रुकुटिक्रोध सरीखे अपने खड्ग से शत्रुओं के कपोल विचूर्ण कर दिये।

भावार्थ—चालुक्यराज सत्याश्रय का खड्ग मानो उसकी भ्रुकुटि की तरह था, जिसके उठने मात्र से शत्रुओं के कपाले चूर्ण हो गये।

कोष:—'भ्रकुटिर्भ्रुकुटिर्भ्रूकुटिः स्त्रियाम्' इत्यमरः।

अलंकार—खड्ग पर भ्रुकुटि क्रोध के उत्प्रेक्षण से उत्प्रेक्षा है। वंश पर वेणुत्व का आरोप राजा पर मौक्तिकत्व के आरोप का हेतु है। अतः परम्परित रूपक भी है ॥ ७४ ॥

अथ सत्याश्रयविक्रमो वर्ण्यते—

यस्येषवः संयुगयामिनीषु, प्रोतप्रतिक्ष्मापतिमौलिरत्नाः।
गृहीतदीपा इव विन्दते स्म, खड्गान्धकारे रिपुचक्रवालम् ॥ ७५ ॥

यस्येति—संयुगयामिनीषु = संयुगा एव युद्धान्येव, यामिन्यः रात्रयस्तासु समरनिशासु। प्रोतप्रतिक्ष्मापतिमौलिरत्नाः—प्रोतानि विद्धानि, ष्यी तन्तुसंताने, प्रोय्यन्ते स्मेति प्रोतानि प्रतिक्ष्मापतीनाम् शत्रुनृपाणां, मौलिरत्नानि शिरोमणयो येषु ते। यस्य = सत्याश्रयस्य। इषवः = बाणाः। 'पृषत्कबाणविशिखा अजिह्मगखगाशुगाः। कलम्बमार्गणशराः पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः। इष्यतेऽनेनेति इषुः, 'ईष गतिहिंसादर्शनेषु' तत 'ईषे किच्च' इत्युः आदेरिच्च। खड्गान्धकारे = निस्त्रिंशतमसि। गृहीतदीपाः = करगृहीतप्रदीपा इव। रिपुचक्रवालं = शत्रुमण्डलम्। विन्दतेस्म = जानन्तिस्म, विद विचारणे इति रुधादिस्थस्य धातोर्लटि प्रथमपुरुषस्य बहुवचने 'विन्दते' इति रूपम् अनुविद्धराजमौलिरत्नेषु बाणेषु गृहीतदीपकत्वस्य संभावनाद् उत्प्रेक्षा।

अन्वयः—संयुगयामिनीषु प्रोतप्रतिक्ष्मापतिमौलिरत्नाः यस्य इषवः खड्गान्धकारे गृहीतदीपा इव रिपुचक्रवालं विन्दते स्म।

अनुवाद—युद्धरूपी रात्रियों में शत्रुओं के मुकुटों में जटित रत्नों से विद्ध हुए, जिसके बाण खड्गरूपी अन्धकार में मानों दीपक सा लेकर शत्रु समूह को जान लेते थे।

भावार्थ—सत्याश्रय समर में जो बाण बरसाते थे, तो उसमें शत्रुओं के शिरोभूषण के रत्न विंध जाते थे। रत्नविद्ध ये बाण मानों युद्धरूपी रात्रि के अन्धकार में दीपक लेकर शत्रुओं को ढूँढ लेते थे।

कोष:—'पृषत्कबाणविशिखा अजिह्मगखगाशुगाः' इत्यमरः।

अलंकार—राजाओं में मौलिरत्न से विद्ध बाणों में दीपग्रहण के संभावन से उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ७५ ॥

अवन्ध्यपातानि रणाङ्गणेषु, सलीलमाकृष्टधनुर्गुणस्य।
यस्यानमत्कोटितया व्यराजदस्त्राणि चुम्बन्निव चापदण्डः ॥ ७६ ॥

अवन्ध्येति—रणाङ्गणेषु = समरप्राङ्गणेषु। सलीलम् = लीलया सह यथा स्यात् तथा सहेलम्। आकृष्टधनुर्गुणस्य = आकृष्टः धनुर्गुणः = चापमौर्वी येन, तस्य। यस्य = सत्याश्रयस्य। चापदण्डः = कार्मुकदण्डः। आनमत्कोटितया = आनमन्त्यौ कोटी प्रान्तभागौ यस्य सः आनमत्कोटिस्तस्य भावस्तया, आनमत्कोटितया अवनमत्कोणतया। 'कोटिः स्त्री धनुषोऽग्रेऽस्रौ सङ्ख्या-

भेदप्रकर्षयोः' इति मेदिनी। अवन्ध्यपातानि = अवन्ध्यः-अमोघः पातः पतनम् येषान्तानि अमोघ-प्रहाराणि। अस्त्राणि = इषून्। चुम्बन्निव = स्पृशन्निव। व्यराजत् = अशोभत।

अन्वयः— रणाङ्गनेषु सलीलम् आकृष्टधनुर्गुणस्य यस्य चापदण्डः आनमत्कोटितया अवन्ध्यपातानि अस्त्राणि चुम्बन् इव व्यराजत्।

अनुवाद—युद्ध के प्रांगण में आयास के बिना ही धनुष की प्रत्यञ्चा खींचने वाले जिस सत्याश्रय का धनुर्दण्ड दोनों किनारों के झुक जाने के कारण अमोघ रूप में वेधनेवाले अस्त्रों को मानों चूमता हुआ सा शोभित होता था।

भावार्थ—खींचे गये धनुष के किनारे झुककर मानो अमोघ अस्त्रों को चूम लेते थे।

कोषः—'अङ्गणं चत्वराजिरे' इत्यमरः। 'धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्' इत्यमरः।

अलंकार—चापदण्ड में चुम्बनरूप क्रिया के उत्प्रेक्षण के कारण उत्प्रेक्षा है॥ ७६॥

भूभृत्सहस्रार्पितदेहरन्ध्रैः, क्रौञ्चाचलच्छिद्रविशारदानाम्।
सेहे न गर्वः पृथुसाहसस्य, यस्येषुभिर्भार्गवमार्गणानाम्॥ ७७॥

भूभृदिति—पृथुसाहसस्य = पृथु महत् साहसं, सहसि बले भवं 'तत्र भवः' इति अण् प्रत्ययः, यस्य तस्य अतिविक्रमवतः। यस्य = सत्याश्रयस्य। भूभृत्सहस्रार्पितदेहरन्ध्रैः = विद्धापरिमितसंख्याकनृपैः, पक्षे छिद्रितासंख्यातगिरिभिः। इषुभिः = बाणैः। क्रौञ्चाचलच्छिद्रविशारदानां = क्रौञ्चाभिधपर्वतच्छेदनकुशलानाम्। भार्गवमार्गणानां = परशुरामबाणानाम्। गर्वः = अहंकारः। न सेहे = न सोढः। क्षत्रियकुलविनाशकः परशुरामः क्रौञ्चपर्वतं विव्याधेति श्रूयते। उक्तञ्च कालिदासेन 'हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्' इति मेघदूते। भार्गवपरशुरामेण केवलमेकस्मिन् क्रौञ्चभूभृति छिद्रं कृतमासीत्, अनेन तु अनेकेषु भूभृत्सु इति, तस्मादस्य वैशिष्ट्यम् अतो व्यतिरेको व्यङ्ग्यः।

अन्वयः— पृथुसाहसस्य यस्य भूभृत्सहस्रार्पितदेहरन्ध्रैः इषुभिः क्रौञ्चाचलच्छिद्रविशारदानां भार्गवमार्गणानां गर्वः न सेहे।

अनुवाद—अति साहसी, जिसके हजारों भूभृतों (राजाओं, पक्षान्तर में पर्वतों) को देह को वेधने वाले बाणों ने (एक) क्रौंचपर्वत के भेदन करने में कुशल परशुराम के बाणों का गर्व न सहन किया।

भावार्थ—परशुराम ने एक भूभृत् (पर्वत, क्रौञ्चपर्वत) को छेद दिया था, किन्तु इस नृपति ने हजारों भूभृत् (राजाओं) के शरीर विद्ध कर दिये।

कोषः—'साहसं तु दमे दुष्करकर्मणि अविमृश्यकृतौ धाष्ट्यें' इति वैजयन्ती। 'गर्वोऽभिमानोऽहंकारो मानश्चित्तसमुन्नतिः। दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेकः स्मयो मदः' इत्यमरः।

अलंकार—परशुराम ने एक भूभृत् (पर्वत) का भेदन किया था, इसने तो अनेक भूभृत् (राजाओं) को विद्ध किया, इस प्रकार व्यतिरेक व्यङ्ग्य है॥ ७७॥

दृप्तारिदेहे समरोपमर्दसूत्रावशेषस्थितहारदाम्नि ।
यज्ञोपवीतभ्रमतो बभूव, यस्य प्रहर्तुः क्षणमन्तरायः ॥ ७८ ॥

दृप्तेति—समरोपमर्दसूत्रावशेषस्थितहारदाम्नि = समरे युद्धे उपमर्दः सम्मर्दस्तेन सूत्रावशेषं सूत्रमेवावशेषो यस्य तत् स्थितं हारदाम हार एव दाम माला यस्मिन् तस्मिन् । दृप्तारिदेहे = दृप्तश्चासावरिश्च तस्य देहे शरीरे । यज्ञोपवीतभ्रमतः = यज्ञोपवीतस्य यज्ञसूत्रस्य भ्रमतः भ्रमेण । यस्य प्रहर्तुः = प्रहारं कुर्वतः । क्षणम् = किञ्चित्कालं । प्रहारकरणे अन्तरायः = विघ्नः, 'विघ्नोन्तरायः प्रत्यूहः' इत्यमरः । बभूव = अभूत् । हारसूत्रे यज्ञोपवीतस्य भ्रान्तिवर्णनाद् भ्रान्तिमानलङ्कारः ।

अन्वयः—समरोपमर्दसूत्रावशेषस्थितहारदाम्नि दृप्तारिदेहे यज्ञोपवीतभ्रमतः यस्य प्रहर्तुः क्षणमन्तरायः बभूव ।

अनुवाद—रण के सम्मर्द में (हार के रत्न गिर जाने के कारण) सूत्रमात्ररूप में बच रहे हार से युक्त गर्वीले शत्रु की देह पर प्रहार करने वाले सत्याश्रय को यज्ञोपवीत के भ्रम से क्षण भर तक रुकना पड़ा ।

भावार्थ—युद्ध के ठेल-ठाल में हार के मोती आदि तो गिर गये, शरीर पर सूत्रमात्र रहे । शत्रु के ये हारसूत्र उनके शरीर पर यज्ञोपवीत का भ्रम पैदा कर देते थे, अतः उन्हें द्विज समझ कर वह मारने में ठिठक जाता था ।

कोषः—'अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहौ' इत्यमरः । 'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः' इत्यमरः ।

अलंकार—हारसूत्र में यज्ञोपवीत की भ्रान्ति से भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ॥ ७८ ॥

प्राप्तस्ततः श्रीजयसिंहदेवः, चालुक्यसिंहासनमण्डनत्वम् ।
यस्य व्यराजन्त गजाहवेषु, मुक्ताफलानीव करे यशांसि ॥ ७९ ॥

प्राप्त इति—ततः = सत्याश्रयनृपानन्तरम् । श्रीजयसिंहदेवः = एतन्नामा नृपः । चालुक्यसिंहासनमण्डनत्वं प्राप्तः = चालुक्यराजसिंहासनभूषणत्वं प्राप्तवान् । श्री सत्याश्रयानन्तरं जयसिंहो बभूवेत्यर्थः । गजाहवेषु = गजप्रधानेषु रणेषु । यस्य = श्रीजयसिंहदेवस्य । करे = हस्ते । मुक्ताफलानि = मौक्तिकानि । यशांसि इव = कीर्तय इव । व्यराजन्त = विरेजुः । शुक्लवर्णसादृश्याद् यशसां मुक्ताफलेषूत्प्रेक्षणात् उत्प्रेक्षा ।

अन्वयः—ततः श्रीजयसिंहदेवः चालुक्यसिंहासनमण्डनत्वं प्राप्तः, गजाहवेषु यस्य करे मुक्ताफलानि यशांसि इव व्यराजन्त ।

अनुवाद—तदनन्तर (सत्याश्रय नृप के पश्चात्) श्री जयसिंहदेव चालुक्यसिंहासन के अलङ्कार बने हस्तियुद्धों में जिस जयसिंह देव के हाथ में मोती यश की तरह शोभा देते थे ।

कोषः—'अभ्यामर्दसमाघातसंग्रामाभ्यागमाहवाः' इत्यमरः ।

अलंकार—मुक्ताफल में यश का उत्प्रेक्षण करने से उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ७९ ॥

तत्प्रतापं वर्णयति—

यस्य प्रतापेन कदर्थ्यमानाः, प्रत्यर्थिभूपालमहामहिष्यः ।
अन्वस्मरंश्चन्दनपङ्किलानि, प्रियाङ्कपालीपरिवर्तनानि ॥ ८० ॥

यस्येति—यस्य = जयसिंहदेवस्य । प्रतापेन = प्रभावेण, कोषदण्डजेन प्रभात्रेण प्रकृष्टतापेन च । कदर्थ्यमानाः = कदर्थ्यन्ते इति कदर्थ्यमानाः पीडिताः । प्रत्यर्थिभूपालमहामहिष्यः = प्रत्यर्थिभूपालानामरातिभूपानाम्, महामहिष्यः कृताभिषेका राज्यः । चन्दनपङ्किलानि = चन्दनेन हरिचन्दनेन पङ्किलानि लिप्तानि । प्रियाङ्कपालीपरिवर्तनानि = प्रियाणां अङ्कः क्रोडः, तस्य पाली श्रेणी पार्श्वभागश्च आश्लेष इत्यर्थः, तत्र परिवर्तनानि परावर्त्तान् । अन्वस्मरन् = स्मरन्तिस्म । अत्र महिषीशब्दस्य श्लिष्टत्वाद्यथा महिष्यो ग्रीष्मे शैत्याय पङ्के लुठन्ति तथैव इमा राजस्त्रियः पराजयात् प्राक् शैत्यसुखार्थं स्वपत्यङ्कलिप्तचन्दनपङ्के लुठन्ति स्मेति ।

अन्वयः—यस्य प्रतापेन कदर्थ्यमानाः प्रत्यर्थि-भूपालमहामहिष्यः चन्दनपङ्किलानि-प्रियाङ्कपालीपरिवर्तनानि अन्वस्मरन् ।

अनुवाद—जिस जयसिंह देव के प्रताप से पीडित शत्रु राजाओं की रानियाँ अपने पतियों के चन्दन-चर्चित अंक में ली गयी करवटों को (अब केवल) स्मरण किया करती थीं ।

कोषः—'द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः । अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः" इत्यमरः ॥ ८० ॥

प्रतापभानौ भजति प्रतिष्ठां, यस्य प्रभातेष्विव संयुगेषु ।
सूर्योपलानामिव पार्थिवानां, केषां न तापः प्रकटीबभूव ॥ ८१ ॥

प्रतापेति—यस्य = जयसिंहदेवस्य । प्रभातेष्विव = प्रातः समयेष्विव । संयुगेषु = सङ्ग्रामेषु । प्रतापभानौ = प्रतापः तेजः भानुरिव तस्मिन्, अन्यत्र–प्रकृष्टस्तापो यस्य सः प्रतापः, स चासौ भानुश्च–प्रतापभानुस्तस्मिन्, 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सप्तमी। प्रतिष्ठां भजति = प्राप्ते सति । सूर्योपलानामिव = सूर्यकान्तानामिव । कस्य तापो न बभूव । अपि तु सर्वेषामेव शत्रूणां तापो व्यक्तोऽभूत् । अत्र प्रतापे भानुत्वारोपाद् रूपकम् । प्रभात-संयुगयोः सूर्योपलपार्थिवयोश्चोपमा । केषां न प्रकटीबभूवेत्यर्थापत्तिश्चेति परस्परसापेक्षत्वात्तेषां सङ्करः ।

अन्वयः—यस्य प्रभातेषु प्रतापभानौ प्रतिष्ठां भजति सूर्योपलानामिव केषां पार्थिवानां तापः न प्रकटीबभूव ।

अनुवाद—युद्ध में प्रातःकालीन सूर्य के समान जिस जयसिंह देव के प्रताप के प्रतिष्ठित होने पर सूर्यकान्त मणि के सदृश किन राजाओं में ताप नहीं प्रकट हुआ ?

कोषः—'प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमुषःप्रत्युषसी अपि । प्रभातम्' इत्यमरः ।

अलंकार—यहाँ प्रताप पर भानुत्व के आरोप के कारण रूपक है । प्रभात एवं संयुग तथा सूर्योपल एवं पार्थिव में सादृश्य के कारण उपमा है । 'केषां न बभूव' के सापेक्ष होने के कारण अर्थापत्ति भी है । इन तीनों का संकर है ॥ ८१ ॥

यात्रासु यस्य ध्वजिनीभरेण, दोलायमाना सकला धरित्री ।
आर्द्रव्रणाधिष्ठितपृष्ठपीठमकर्मठं कूर्मपतिं चकार ॥ ८२ ॥

यात्रास्विति—यस्य = जयसिंहदेवस्य । यात्रासु = विजययात्रासु । ध्वजिनीभरेण = सैन्यसमूहेन । दोलायमाना = कम्पमाना । सकला = समस्ता । धरित्री = भूमिः । कूर्मपतिं = कच्छपम् । आर्द्रव्रणाधिष्ठितपृष्ठपीठम् = आर्द्रो यो व्रणस्तेनाधिष्ठितं युक्तं, पृष्ठपीठं पृष्ठभागो यस्य तम् । अतएव अकर्मठम् = निष्क्रियं । चकार = कृतवान् ।

अन्वयः—यस्य यात्रासु ध्वजिनीभरेण दोलायमाना सकला धरित्री कूर्मपतिं आर्द्रव्रणाधिष्ठितपृष्ठपीठम् अकर्मठं चकार ।

अनुवाद—जिस (जयसिंह देव) की विजययात्राओं में सेना के भार से काँपती हुई पृथ्वी ने कूर्मराज के पीठ के स्थित व्रणों (घावों) के फिर से नवीन कर देने से निष्क्रिय कर दिया ।

भावार्थ—जयसिंह देव की विशाल सेना के अभियान होने पर उसकी धमक से पृथ्वी को धारण करने वाले कच्छपावतार भगवान् के पीठ पर घाव हो गये ।

कोष:—'कर्मशूरस्तु कर्मठः' इत्यमरः ॥ ८२ ॥

किरीटमाणिक्यमरीचिवीचि-प्रच्छादिता यस्य विपक्षभूपाः ।
चिताग्निभीत्या समराङ्गणेषु, न सङ्गृहीताः सहसा शिवाभिः ॥ ८३ ॥

किरीटेति—यस्य = जयसिंहदेवस्य । विपक्षभूपाः = शत्रुनृपाः । किरीटमाणिक्यमरीचिवीचिप्रच्छादिताः = किरीटेषु मुकुटेषु माणिक्यानि रत्नानि, तेषां मरीचिवीचिभिः किरणततिभिः प्रच्छादिताः आवृताः । समराङ्गणेषु = युद्धाङ्गणेषु । चिताग्निभीत्या = चितिवह्निभयेन । 'चिता चित्या चितिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । शिवाभिः = शृगालीभिः । 'स्त्रियां शिवा भूरिमायगोमायुमृगधूर्तकाः । शृगालवञ्चकक्रोष्टुफेरुफेरवजम्बुकाः' इत्यमरः । सहसा = प्रसह्य । न सङ्गृहीताः = मुकुटस्थितमाणिक्येषु चिताग्निभ्रान्त्या भीतास्ताः सहसा खादितुं न गताः । माणिक्यमरीचिषु चिताग्निप्रतिपादनाद् भ्रान्तिमानलङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

अन्वयः—यस्य विपक्षभूपाः किरीटमाणिक्यमरीचिवीचिप्रच्छादिताः समराङ्गणेषु चिताग्निभीत्या शिवाभिः सहसा न सङ्गृहीताः ।

अनुवाद—जिस जयसिंह देव द्वारा मारे गये राजाओं को, मुकुटों में जड़े हुए रत्नों की किरणों से आवृत रहने से, युद्धभूमि में सियारिनें चिताग्नि के भ्रम से भीत होकर खाने के लिए सहसा प्रवृत्त नहीं होती थीं ।

कोष:—'चिता चित्या चितिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । 'स्त्रियां शिवा भूरिमायगोमायुमृगधूर्तकाः । शृगालवञ्चकक्रोष्टुफेरुफेरवजम्बुकाः' इत्यमरः ।

अलंकार—माणिक्यकिरणों को चिताग्नि के प्रतिपादन से भ्रान्तिमान् अलंकार व्यंग्य है ॥ ८३ ॥

यात्रासु दिक्पालपुरीं विलुण्ठ्य, न दिग्गजान् केवलमग्रहीद्यः ।
पलायितास्ते जयसिन्धुराणां, गन्धेन सप्तच्छदबान्धवेन ॥ ८४ ॥

यात्रास्विति—यः = जयसिंहदेवः । यात्रासु = विजययात्रासु । दिक्पालपुरीं = दिक्पाल-नगरीम् । विलुण्ठ्य = लुण्ठयित्वा । केवलं दिग्गजान् = दिग्गजेन्द्रान् । न अग्रहीत् । यतः ते = दिग्गजाः । जयसिन्धुराणां = गन्धगजानां । सप्तच्छदबान्धवेन = सप्तच्छदः सप्तच्छदनामधेयस्तरुविशेषस्तस्य बान्धवेन सदृशेन । गन्धेन = मदगन्धेन । पलायिताः = प्रद्रुताः ।

अन्वयः—यः यात्रासु दिक्पालपुरीम् विलुण्ठ्य केवलम् दिग्गजान् न अग्रहीत्, ते जय-सिन्धुराणां सप्तच्छदबान्धवेन गन्धेन पलायिताः ।

अनुवाद—जिस जयसिंहदेव ने अपनी विजययात्राओं में दिक्पालों की नगरी लूट लिया, केवल दिग्गजों को नहीं लिया, क्योंकि वे (जयसिंहदेव के) गन्धगजों की सप्तच्छद जैसी मदगन्ध से ही भाग चुके थे ।

भावार्थ—जयसिंह नरेश के गज दिग्गजों से भी अधिक बलवान् थे ।

कोषः—'सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छदः' इत्यमरः ॥ ८४ ॥

अपारवीरव्रतपारगस्य, पराङ्मुखा एव सदा विपक्षाः ।
अधिज्यचापस्य रणेषु यस्य, यशः परं सम्मुखमाजगाम ॥ ८५ ॥

अपारेति—अपारवीरव्रतपारगस्य = अपारं दुस्तरं यद् वीरव्रतं वीरकर्म, तत्र पारगः पार-गामी । विपक्षाः = शत्रवः । सदा = सर्वदा, सर्वस्मिन् काले सदा, अत्र सर्वशब्दात् 'सर्वै-कान्यकियत्तदः काले दा' इति 'दा' प्रत्ययः, सर्वस्य सादेशः । पराङ्मुखाः = असम्मुखीना एव, परं रणेषु = युद्धेषु । अधिज्यचापस्य = ज्याम् अधिगतः, चापः यस्य तस्य = आरूढमौर्वीककोदण्डस्य । यस्य = जयसिंहदेवस्य । यशः = कीर्तिः । सम्मुखम् = अभिमुखम् । आजगाम = आगता ।

अन्वयः—अपारवीरव्रतपारगस्य विपक्षाः सदा पराङ्मुखा एव, परं रणेषु अधिज्यचापस्य यस्य यशः सम्मुखम् आजगाम ।

अनुवाद—अपारवीर व्रत के पारंगत जिन (जयसिंह देव के) शत्रु सर्वदा उनसे पराङ्मुख ही रहते थे, किन्तु संग्रामों में चढ़ी हुई मौर्वी वाले धनुष धारण किए हुए उनके सम्मुख कीर्ति आती थी ।

भावार्थ—जयसिंह के सम्मुख उनके वीर तो नहीं ठहर पाते थे, किन्तु उन शत्रुओं का यश उन्हें छोड़कर जयसिंह देव के सम्मुख ही आ जाता था ।

कोषः—'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः ॥ ८५ ॥

यशोवतंसं नगरं सुराणाम्, कुर्वन्नगर्वः समरोत्सवेषु ।
न्यस्तां स्वहस्तेन पुरन्दरस्य, यः पारिजातस्रजमाससाद ॥ ८६ ॥

यशोवतंस इति—समरोत्सवेषु=समरा रणा एव उत्सवास्तेषु रणोत्सवेषु। सुराणां=देवानां। 'अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः' इत्यमरः। नगरम्=इन्द्रपुरीं। यशोवतंसं=स्वकीर्तिभूषितं। कुर्वन्। तथापि स्वयम् अगर्वः=न विद्यते गर्वो यस्य सः अगर्वः दर्परहितः, 'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः' इत्यमरः। यः=जयसिंहदेवः। पुरन्दरस्य=शक्रस्य। स्वहस्तेन=स्वकरेण। न्यस्तां=प्रदत्ताम्। पारिजातस्रजं=देवकुसुममालाम्। आससाद=प्राप्तवान्।

अन्वयः—समरोत्सवेषु सुराणां नगरं यशोवतंसं कुर्वन् (स्वयम्) अगर्वः यः पुरन्दरस्य स्वहस्तेन न्यस्तां पारिजातस्रजम् आससाद।

अनुवाद—रणोत्सवों में देवताओं की पुरी (अमरावती) को (अपनी) कीर्ति से विभूषित कर (फिर भी स्वयम्) निरभिमान रहकर जिसने देवराज इन्द्र से स्वयं अपने हाथों से अर्पित पारिजात पुष्पों की माला प्राप्त की।

भावार्थ—जयसिंह देव की शूरता की कीर्ति स्वर्ग तक पहुँची। अतः उस कीर्ति का आदर करने वाले इन्द्र ने स्वयं पारिजात माला भेंट की।

कोषः—'अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहौ' इत्यमरः। 'उत्तंसावतंसौ द्वौ कर्णपूरे च शेखरे' इत्यमरः॥ ८६॥

जयसिंहदेवतनयमाहवमल्लदेवप्रतापमासर्गान्तं वर्णयति—

तस्मादभूदाहवमल्लदेवः, त्रैलोक्यमल्लापरनामधेयः।
यन्मण्डलाग्रं न मुमोच लक्ष्मीः, धाराजलोत्था जलमानुषीव॥ ८७॥

तस्मादिति—तस्मात्=जयसिंहदेवात्। त्रैलोक्यमल्लापरनामधेयः='त्रैलोक्यमल्ल' इत्यपरनामधेयं यस्य सः। आहवमल्लदेवः=आहवमल्लदेवनामा। नृपः=राजा। अभूत्=बभूव। लक्ष्मीः=राजलक्ष्मीः। यन्मण्डलाग्रम्=यस्य आहवमल्लदेवस्य, मण्डलाग्रं खड्गं। धाराजलोत्था=धाराजलात् कृपाणधाराजलात्, उत्था=उत्पन्ना। जलमानुषीव=जलसम्भूताप्सरःसदृशीव। न मुमोच=न तत्याज। यथा जलोत्पन्ना मानुषी जलं न जहाति, एवं कृपाणप्रभावसम्पादिता राजलक्ष्मीराहवमल्लदेवस्य कृपाणं न मुमोच, तमेव सिषेवे, इति भावः। धाराजलोत्थलक्ष्म्या जलमानुषीसादृश्यप्रतिपादनादुपमालङ्कारः।

अन्वयः—तस्मात् त्रैलोक्यमल्लापरनामधेयः आहवमल्लदेवः अभूत्, लक्ष्मीः यन्मण्डलाग्रं धाराजलोत्था जलमानुषीव न मुमोच।

अनुवाद—उन (जयसिंह देव से) आहवमल्लदेव नृप (उत्पन्न) हुए, जिनका दूसरा नाम त्रैलोक्यमल्ल भी था। धाराजल (कृपाणधारा, जलप्रवाह) से उत्पन्न हुई अप्सरा के समान राजलक्ष्मी ने जिसके कृपाण का कभी परित्याग नहीं किया।

भावार्थ—कृपाण की धाराजल से राजलक्ष्मी का जन्म हुआ। वह जलसम्भूत अप्सरा के स्वभाव को पाकर उस कृपाणधाराजल को छोड़ न सकी।

कोषः—'कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्' इत्यमरः।

अलंकार—धाराजलोत्पन्न राजलक्ष्मी का सादृश्य जलमानुषी से होने के कारण उपमा है ॥ ८७ ॥

आख्यायिकासीम्नि कथाद्भुतेषु, यः सर्गबन्धे दशरूपके च ।
पवित्रचारित्रतया कवीन्द्रैः, आरोपितो राम इव द्वितीयः ॥ ८८ ॥

आख्यायिकेति—कवीन्द्रैः=महाकविभिः । आख्यायिकासीम्नि=ज्ञातसत्यार्थे गद्यकाव्यभेदे । कथाद्भुतेषु=प्रबन्धरचनासु, स्तोकसत्यासु कथासु । सर्गबन्धे=महाकाव्ये । दशरूपके=दशविधे नाट्ये । 'नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः । व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा' इति दश रूपकाणि । पवित्रचारित्रतया=पवित्रं, चरित्रमेव चारित्रं तस्य भावस्तया पूतचरितत्वेन द्वितीयः रामः इव=अपरराघव इव । यः=आहवमल्लदेवः । आरोपितः=दृष्टान्तत्वेन वर्णनीयत्वेन च गृहीतः ।

अन्वयः—कवीन्द्रैः आख्यायिकासीम्नि कथाद्भुतेषु सर्गबन्धे दशरूपके च पवित्रचारित्रतया द्वितीयः राम इति यः आरोपितः ।

अनुवाद—महाकवियों ने आख्यायिका की सीमा में, अद्भुत कथाओं में सर्गबन्ध (महाकाव्यों) में नाटकादिरूपक भेदों में जिस आहवमल्ल देव को उसके पवित्र चरित्र के कारण मानो दूसरे राम के रूप में ही निबद्ध किया ।

भावार्थ—आहवमल्लदेव के पवित्र चरित्र के कारण कवियों ने अपने काव्यों में उन्हें प्रतिष्ठित किया ।

कोषः—'आख्यायिकोपलब्धार्था' इत्यमरः । 'प्रबन्धकल्पना कथा' इत्यमरः ॥ ८८ ॥

भूपेषु कूपेष्विव रिक्तभावं, कृत्वा प्रपापालिकयेव यस्य ।
वीरश्रिया कीर्तिसुधारसस्य दिशां मुखानि प्रणयीकृतानि ॥ ८९ ॥

भूपेष्विति—प्रपापालिकयेव=पानीयशालिकायाः पालिकयेव पथिकादिभ्यः जलप्रदानरतया स्त्रियेव । यस्य=आहवमल्लदेवस्य । वीरश्रिया=रणविक्रमश्रिया । कूपेष्विव=अन्धुष्विव । 'पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूपः' इत्यमरः । भूपेषु=नृपेषु । 'राजराट्पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः' इत्यमरः । कीर्तिसुधारसस्य=कीर्तिरिवातिनिर्मलः यः रसः सुधा तस्य । रिक्तभावं=रिक्तत्वं । कृत्वा=सम्पाद्य । दिशां=ककुभाम् । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः । मुखानि=अग्रभागाः, आननानि च । प्रणयीकृतानि=स्नेहास्पदीकृतानि च । वीरश्रिया प्रपापालिकासादृश्यात्, भूपेषु कूपसादृश्याच्चोपमालङ्कारः । दिगन्तव्यापिकीर्तिः आहवमल्लदेव इति तात्पर्यम् ।

अन्वयः—प्रपापालिकया इव यस्य वीरश्रिया कूपेषु इव भूपेषु कीर्तिसुधारसस्य रिक्तभावं कृत्वा दिशां मुखानि प्रणयीकृतानि ।

अनुवाद—प्याऊ पर पानी पिलाने वाली स्त्री की भाँति जिस आहवमल्लदेव की वीरश्री ने कूपों जैसे राजाओं को उनके कीर्ति सुधारस से रिक्तकर दिङ्मुखों को अपने प्रणय का पात्र बनाया ।

भावार्थ—आहवमल्लदेव की कीर्ति दिगन्त तक फैल गयी।

कोषः—'पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूपः' इत्यमरः। 'राज्ञि राट्पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः' इत्यमरः। 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ता' इत्यमरः॥ ८९॥

कौक्षेयकः क्ष्मातिलकस्य यस्य, पीत्वातिमात्रं द्विषतां प्रतापम्।
आलोड्य बाष्पाम्बुभिराचचाम, चोलीकपोलस्थलचन्दनानि॥ ९०॥

कौक्षेयक इति—क्ष्मातिलकस्य=पृथिव्यास्तिलकस्य। 'तिलको द्रुमरोगाश्वभेदेषु तिलकालके। क्लीवं सौवर्चलक्लोम्नोर्न स्त्रियान्तु विशेषके' इति मेदिनी। यस्य=आहवमल्लदेवस्य। कौक्षेयकः=कृपाणः, कुक्षौ भवः 'कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलंकारेषु' इति कुक्षिशब्दात् ढकञ्-प्रत्यये रूपम्। द्विषतां=शत्रूणां। प्रतापं=प्रभावम्, अन्यत्र प्रकृष्टन्तापम्। अतिमात्रम्=अत्यधिकमात्रम्, मात्रामतिक्रान्तम् 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वः। 'अतिमात्रोद्गाढनिर्भरम्' इत्यमरः। पीत्वा चोलीकपोलस्थलचन्दनानि=चोलीनां चोलदेशाङ्गनानाम्, कपोलस्थलेषु गण्डभागेषु चन्दनानि हरिचन्दनानि, हरिचन्दनकृतपत्रावलीरित्यर्थः। बाष्पाम्बुभिः=चोलीनामेवाश्रुभिः। आलोड्य=निर्मथ्य। आचचाम=पपौ। कृपाणः प्रतापोष्मणः शान्त्यर्थं चोलस्त्रीवाष्पाम्बुमिश्रितचन्दनं पपौ। कश्चिदुष्णतानिवारणाय चन्दनमिश्रितं जलं शैत्याय सेवत इति अप्रकृतव्यवहारस्य कृपाणव्यवहारे समारोपात् समासोक्तिरलंकारः। तथाहि—'समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः। व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः' इति।

अन्वयः—क्ष्मातिलकस्य यस्य कौक्षेयकः द्विषतां प्रतापम् अतिमात्रं पीत्वा चोलीकपोलस्थलचन्दनानि वाष्पाम्बुभिः आलोड्य आचचाम।

अनुवाद—पृथ्वी के तिलक आहवमल्लदेव के कृपाण ने, शत्रुओं के प्रताप का अत्यधिक पान कर चोलस्त्रियों के कपोलों के चन्दन को अश्रुजलों से आलोडित कर पिया।

भावार्थ—आहवमल्लदेव ने चोलदेश की विजययात्रा की। पराजय के दुःख से रोती शत्रुनारियों के मुख की चन्दनरचित पत्ररचना धुल गयी।

कोषः—'तिलको द्रुमरोगाश्वभेदेषु तिलकालके। क्लीवं सौवर्चलक्लोम्नोर्न स्त्रियान्तु विशेषके' इति मेदिनी। 'कौक्षेयको मण्डलाग्रः कृपाणः करवालवत्' इत्यमरः। 'अतिमात्रोद्गाढनिर्भरम्' इत्यमरः।

अलङ्कार—जैसे कोई प्यास बुझाने के लिए जल पीता है, इस अप्रकृत व्यवहार के कृपाण व्यवहार पर समारोप के कारण समासोक्ति है॥ ९०॥

दीप्र-प्रतापानल-सन्निधानाद्, बिभ्रत् पिपासामिव यत्कृपाणः।
प्रमारपृथ्वीपतिकीर्तिधारां, धारामुदारां कवलीचकार॥ ९१॥

दीप्रेति—यत्कृपाणः=यस्य कृपाणः यत्कृपाणः आहवमल्लदेवकरवालः। दीपप्रतापानल-सन्निधानात्=दीप्यते इति दीप्रः, दीपी दीप्तौ, 'नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः' इति ताच्छील्यार्थे 'र' प्रत्ययः दीप्तिमान्, प्रताप एव अनलः अग्निस्तस्य सन्निधानात् सामीप्यात्।

पिपासाम् इव=पातुमिच्छा पिपासा ताम्, पातेः सन्नन्तात् स्त्रियाम् रूपम्., तृषम् इव 'उदन्या तु पिपासा तृट् तर्षः' इत्यमरः। बिभ्रत्=धारयन्। प्रमारपृथ्वीपतिकीर्तिधाराम्=प्रमारः पृथ्वीपतिः परमार इति वंशविशेषः यत्र भोजो जन्म लेभे तद्वंशीयपृथ्वीपतेः नृपस्य कीर्तिधारां यशोधारारूपिणीम्। उदारां=विशालाम्। धारां=भोजराजधानीं। कवलीचकार=जग्राह। आत्मसादकरोदित्यर्थः। अकवलं कवलं चकारेति 'अभूततद्भावेऽर्थे' च्विप्रत्ययः, 'अस्य च्वौ' इति लकारोत्तरवर्त्यकारस्य 'ई' आदेशः च्व्यन्तत्वादव्ययत्वम्। धाराशब्देन द्वयर्थबोधनात् श्लेषालंकारः। धाराकवलीकरणे प्रतापानलसन्निधानप्रयुक्तपिपासाधारणस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणात् हेतूत्प्रेक्षा।

अन्वयः—यत्कृपाणः दीप्रप्रतापानलसन्निधानात् पिपासाम् इव बिभ्रत् प्रमार-पृथ्वीपति-कीर्तिधाराम् उदारां धारां कवलीचकार।

अनुवाद—जिस आहवमल्लदेव के खड्ग ने प्रदीप्त प्रतापरूप अग्नि के सान्निध्य के कारण पिपासायुक्त होकर ही मानो परमारवंशीय राजा की कीर्तिप्रवाहरूप विशाल धारा नगरी को कवलित कर लिया अर्थात् स्वायत्त कर लिया।

भावार्थ—आहवमल्लदेव के प्रतापानल के सान्निध्य के कारण ही उनका कृपाण इतना प्यासा हो गया कि उसने परमारवंश की कीर्तिधारा धारा को ही कवलित कर लिया। अर्थात् उसपर अधिकार कर लिया।

कोषः—'उदारो दातृमहतोर्दक्षिणेऽप्यभिधेयवत्' इति मेदिनी।

अलङ्कार—धाराशब्द में श्लेषालंकार है। धारा को कवलित करने में प्रतापानल के सान्निध्य को हेतु रूप में उत्प्रेक्षित करने के कारण उत्प्रेक्षा है॥ ९१॥

अगाधपानीयनिमग्नभूरिभूभृत्कुटुम्बोऽपि यदीयखड्गः।
भाग्यक्षयान्मालवभर्तुरासीद्, एकां न धारां परिहर्तुमीशः॥ ९२॥

अगाध इति—यदीयखड्गः=यदीयः यस्यायं, छप्रत्यये तस्य छस्य ईयादेशः, स चासौ खड्गश्च यदीयखड्गः=आहवमल्लदेवकरवालः। अगाधपानीयनिमग्नभूरिभूभृत्कुटुम्बः=नास्ति गाधः स्थितिरत्रेत्यगाधं, तच्च यत् पानीयं खड्गधाराजलं तत्र निमग्नं भूरि प्रचुरं भूभृत्कुटुम्बं पर्वतसमूहः राजवंशवर्गश्च यस्य सः।। अपि=एवम्भूतोऽपि। मालवभर्तुः=मालवेश्वरस्य भोजराजस्येत्यर्थः। भाग्यक्षयात्=दौर्भाग्यात्। एकां धारां=नगरीम्, पक्षे जलधारां। परिहर्तुं=त्यक्तुम्। ईशः=समर्थः। नासीत्=नाभूत्।

अन्वयः—यदीयखड्गः अगाधपानीयनिमग्नभूरिभूभृत्कुटुम्बः अपि मालवभर्तुः भाग्यक्षयात् एकां धारां परिहर्तुम् ईशः नासीत्।

अनुवाद—जिसका खड्ग अपने अगाध धारा जल में समस्तभूभृत् (पर्वत,राज) कुटुम्ब के निमग्न हो जाने पर भी मालवराज भोज के दुर्भाग्य के कारण एक धारा प्रवाह (धारा नामक नगरी) का त्याग करने में समर्थ नहीं हुआ।

भावार्थ—भूभृत्कुटुम्ब का दो अर्थ है—राजकुटुम्ब तथा पर्वतसमूह। इसी प्रकार पानीय और धारा का भी एक अर्थ तो कृपाण की धार और प्रवाह तथा दूसरा अर्थ धारा नगरी है। इसी आधार पर कल्पना है कि अनेक भूभृत् (पर्वत) को डुबा देने वाले प्रवाह का जैसे एक मामूली धारा को त्याग देने में क्या बिगड़ता है, किन्तु अगर वह मिला ही ले तो यह धारा का दुर्भाग्य है, इसी प्रकार अनेक राजाओं को समेट लेने वाली कृपाणधारा ने यदि एक धारा (नगरी) को नहीं छोड़ा तो यह उसका दुर्भाग्य ही था।

कोषः—'अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशम्वरम्' इत्यमरः ॥ ९२ ॥

निःशेषनिर्वासितराजहंसः, खड्गेन बालाम्बुदमेचकेन।
भोजक्षमाभृद्भुजपञ्जरेऽपि, यः कीर्तिहंसीं विरसीचकार ॥ ९३ ॥

निःशेषेति—बालाम्बुदमेचकेन = बालश्चासौ अम्बुदश्च तद्वत् मेचकेन नवमेघश्यामलेन। 'मेचकः श्यामले कृष्णे तिमिरे बर्हिचन्द्रिके' इति हैमः। खड्गेन = कृपाणेन। निःशेषनिर्वासितराजहंसः = निःशेषं निर्वासिताः बहिष्कृताः मानसम्प्रापिताश्च राजहंसाः राजश्रेष्ठाः पक्षे पक्षिविशेषाः येन सः। 'निर्लोभनृपतौ हंसः' इति विश्वः। यः = आहवमल्लदेवः। भोजक्षमाभृद्भुजपञ्जरेऽपि = भोजक्षमाभृतः भोजराजस्य, भुज एव पञ्जरः तस्मिन् अपि। कीर्तिहंसीं = कीर्तिरेव हंसी, ताम्। विरसीचकार = विरक्तां, विवर्णाञ्च चकार। बालाम्बुदेन खड्गस्य सादृश्यादुपमा। राजसु राजहंसपक्षिणामभेदारोपात् कीर्तौ हंस्या अभेदारोपात् भोजराजभुजे पञ्जराभेदारोपाच्च सावयवरूपकालङ्कारः।

अन्वयः—बालाम्बुदमेचकेन खड्गेन निःशेषनिर्वासितराजहंसः यः भोजक्षमाभृद्भुजपञ्जरेऽपि कीर्तिहंसीं विरसीचकार।

अनुवाद—नवमेघ की तरह श्याम खड्ग से, समस्त राजहंसों (श्रेष्ठ राजा, पक्ष में राजहंस पक्षी) को निर्वासित करने वाले जिस आहवमल्लदेव ने, भोजराज के बाहुरूप पिंजरे में रहने वाली कीर्तिरूपी हंसी को (उससे) विरस कर दिया।

भावार्थ—वर्षाकाल में मेघ देखकर राजहंस मानससरोवर को लौट जाते हैं। नवमेघ जैसे कृपाण से राजारूपी हंस निर्वासित किये गये, अतः कीर्तिरूपी हंसी विरस हो उठी।

कोषः—'निर्लोभनृपतौ हंसः' इति विश्वः।

अलङ्कार—बालाम्बुद में खड्ग की तुलना के कारण उपमा है। राजहंसों का आरोप राजाओं पर तथा हंसी का अभेद कीर्ति से करने के कारण तथा भोजराज की भुजा पर पञ्जर का आरोप होने के कारण सावयव रूपक अलंकार है ॥ ९३ ॥

भोजक्षमापालविमुक्तधारानिपातमात्रेण रणेषु यस्य।
कल्पान्तकालानलचण्डमूर्तिः, चित्रं प्रकोपाग्निरवाप शान्तिम् ॥ ९४ ॥

भोजेति—रणेषु = युद्धेषु। यस्य = आहवमल्लदेवस्य। कल्पान्तकालानलचण्डमूर्तिः = कल्पान्तकाले कल्पावसाने यः अनलः वह्निः भोजक्षमापालविमुक्तधारानिपातमात्रेण = भोजक्षमा-

पालेन भोजराजेन, विमुक्ता त्यक्ता, धारा एतन्नाम्नी नगरी, जलधारा च तस्याः निपातमात्रेण पतनेनैव। शान्तिं = शमनम्। अवाप = प्राप्ता इति चित्रम् आश्चर्यम्। कल्पान्तकालानलेन प्रकोपाग्नेः सादृश्यात् उपमालङ्कारः। धारापदेन जलधारायाः धारानगर्याः खड्गधारायाश्च बोधादत्र श्लेषालङ्कारः। यथा प्रलयाग्निः विसृष्टजलधारासम्पातमात्रेण कदापि शान्तो न भवितुमर्हति तथैव प्रलयाग्निसन्निभः प्रचण्डकोपाग्निरपि भोजप्रयुक्तखड्गधाराजलेन शान्तो न भवितुमर्हति, किन्त्वत्र स शान्तिमवाप इति विरोधः। धारापदेन धारानगर्याः विमर्शेन विरोधपरिहार इति विरोधाभासालङ्कारः।

अन्वयः—रणेषु यस्य कल्पान्तकालानलचण्डमूर्तिः प्रकोपाग्निः भोजक्ष्मापालविमुक्तधारानिपातमात्रेण शान्तिम् अवाप इति चित्रम्।

अनुवाद—युद्ध में जिसकी प्रलय कालीन अग्नि की भाँति कोपाग्नि भोजराज के द्वारा विमुक्त 'धारा' के गिर जाने से ही शान्त हो गई, यह आश्चर्य है।

भावार्थ—रण में प्रकोपरूपी अग्नि धारा के पतन (गिरने, पराजित होने) से शान्त हुई।

कोषः—'कल्पः शास्त्रे विधौ न्याये संवर्त्ते ब्रह्मणो दिने' इति मेदिनी।

अलङ्कार—कल्पान्त काल के अग्नि से प्रकोपाग्नि के सादृश्य के कारण उपमा है। 'धारा' शब्द से प्रवाह और धारानगरी का बोध होने से श्लेष है। जैसे प्रलयाग्नि जलधारा पातमात्र से शान्त नहीं हो सकती वैसे प्रकोपाग्नि भी धारा के पतनमात्र से शान्त नहीं हो सकती, किन्तु शान्त हो गयी यह विरोध है। धारा से धारानगरी का अर्थ लेने पर विरोध परिहार है। इस प्रकार विरोधाभास अलंकार है ॥ ९४ ॥

यः कोटिहोमानलधूमजालैः, मलीमसीकृत्य दिशां मुखानि।
तत्कीर्तिभिः क्षालयति स्म शश्वदखण्डतारापतिपाण्डुराभिः ॥ ९५ ॥

य इति—यः = आहवमल्लदेवः। कोटिहोमानलधूमजालैः = कोटिहोमानाम् कोटिसंख्याकहवनानां यानि अनलधूमजालानि तैः मखाग्निधूमसमूहैः। दिशां = पूर्वादिदिशां। मुखानि = अग्रभागान्। मलीमसीकृत्य = अमलीमसानि मलीमसानि धूम्राणि कृत्वेति मलीमसीकृत्य। अभूततद्भावेऽर्थे 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' इति च्वि प्रत्ययः, 'अस्य च्वौ' इत्यकारस्येकारः। अखण्डतारापतिपाण्डुराभिः = अखण्डः पूर्णो यस्तारापतिश्चन्द्रः, तद्वत् पाण्डुराभिः धवलाभिः। तत्कीर्तिभिः = होमकीर्तिभिः। तच्छब्देन होमपरामर्शः। शश्वत् = निरन्तरं। क्षालयतिस्म = पुनरपि श्वेतिमानं प्रापयत्। तारापतेः पाण्डुरत्वेन कीर्तौ सादृश्याद् उपमा। दिङ्मुखमलिनीकरणपटुभ्यो यज्ञेभ्य एव पाण्डुरकीर्तिजननात् विषमालङ्कारश्च। तल्लक्षणम्–'विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाननुरूपयोः।' इति ॥

अन्वयः—यः कोटिहोमानलधूमजालैः दिशां मुखानि मलीमसीकृत्य अखण्डतारापतिपाण्डुराभिः तत्कीर्तिभिः शश्वत् क्षालयतिस्म।

अनुवाद—जिस आहवमल्लदेव ने करोड़ों यज्ञों की अग्नि के धुएँ से धूम्र किए गये दिशाओं के मुख को पूर्ण चन्द्र के समान निर्मल कीर्ति से निरन्तर प्रक्षालित किया।

भावार्थ—आहवमल्लदेव ने निरन्तर यज्ञ सम्पन्न कराये और अपनी कीर्ति दिगन्त तक फैलायी।

कोषः—'अभीक्ष्णं शश्वदनारते' इत्यमरः।

अलङ्कार—दिशामुखों को मलिन करनेवाले यशों द्वारा पाण्डुकीर्ति की उत्पत्ति से विषम अलंकार है। 'तारापतिपाण्डुराभिः' में उपमा स्पष्ट है ॥ ९५ ॥

> ध्रुवं रणे यस्य जयामृतेन क्षीबः क्षमाभर्तुरभूत्कृपाणः।
> एका गृहीता यदनेन धारा, धारासहस्रं यशसोऽवकीर्णम् ॥ ९६ ॥

ध्रुवमिति—रणे = युद्धे। क्षमाभर्तुः = राज्ञः। यस्य = आहवमल्लदेवस्य। कृपाणः = करवालः। जयामृतेन = शत्रुनृपविजय एवामृतं तेन। क्षीबः = मत्तः। ध्रुवं = निश्चयेन। अभूत्। यत् = यस्मात् कारणात्। अनेन = कृपाणेन। एका धारा = अद्वितीया नगरी। गृहीता = स्वायत्तीकृता। यशसः = कीर्तेः। धारासहस्रं = प्रवाहसहस्रम्। अवकीर्णम् = विक्षिप्तम्, प्रसारितमित्यर्थः। आहवमल्लदेवेन नगरी गृहीतेति यशोलाभः, विकीर्णानि गणनातीत-यशांसि। लोके यो हि अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छति स मत्त इत्युच्यते। तत्र एकस्या धाराया धारासहस्रेण विनिमयः कृतः इति परिवृत्तिरलङ्कारः, 'परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः' इति लक्षणात्। धारापदस्य धारानगरी खड्गधारा जलधारा चेत्यर्थत्रयबोधात् श्लेषोलङ्कारः। अतः सङ्करः।

अन्वयः—रणे क्षमाभर्तुः यस्य कृपाणः जयामृतेन क्षीबः ध्रुवम् अभूत्, यत् अनेन एका धारा गृहीता, यशसः धारासहस्रम् अवकीर्णम्।

अनुवाद—युद्ध में निश्चय ही आहवमल्लदेव का कृपाण विजयामृत को पीकर उन्मत्त हो गया था। क्योंकि इसने एक धारानगरी प्राप्त की, पर कीर्ति की सहस्र धाराओं को बिखेर दिया।

भावार्थ—एक धारा (नगरी) को जीतकर कीर्ति की सहस्रधारा विकीर्ण की। यहाँ धारापद के श्लेष से चमत्कार उत्पन्न किया गया है।

कोषः—'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः' इत्यमरः।

अलंकार—एक धारा से सहस्रधारा का विनिमय करने से परिवृत्ति अलंकार है। धारा पद में श्लेष हैं अतः संकर है ॥ ९६ ॥

> शतक्रतोर्मध्यमचक्रवर्ती, क्रमादनेकक्रतुदीक्षितोऽपि।
> ऐन्द्रात्पदादभ्यधिके पदे यः, तिष्ठन्नशङ्कास्पदतामयासीत् ॥ ९७ ॥

शतक्रतोरिति—क्रमात् = क्रमशः। अनेकक्रतुदीक्षितोऽपि = अनेके च ते क्रतवश्च तेषु दीक्षितोऽपि अनेकयज्ञेषु सञ्जातदीक्षोऽपि, दीक्षा संजाता अस्येत्यर्थे 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' इतीतच् प्रत्यये दीक्षित इति। मध्यमचक्रवर्ती = मध्यमलोकस्य चक्रवर्ती, धरित्र्या ईशः। यः = आहवमल्लदेवः। ऐन्द्रात्पदात् = इन्द्रसम्बन्धिस्थानादपि। अभ्यधिके = अधिके पदे = स्थाने। तिष्ठन् = वर्तमानः। शतक्रतोः = इन्द्रस्य। शङ्कास्पदतां = सन्देहस्थानं। नाया-

सीत्=न प्राप्तः। अनेकयज्ञानुष्ठानेनापि शतक्रतुर्भीतो नाभवत्, यतः तेनैव तदुत्पादनार्थं ब्रह्मा प्रार्थित आसीत्। शङ्काहेतुसत्त्वेऽपि शङ्कास्वरूपकार्याभावप्रतिपादनात् विशेषोक्तिः। तथाहि—'कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे' इति लक्षणम्।

अन्वयः—क्रमात् अनेकक्रतुदीक्षितोऽपि मध्यमचक्रवर्ती यः ऐन्द्रात्पदात् (अपि) अभ्यधिके पदे तिष्ठन् शतक्रतोः शङ्कास्पदतां न अयासीत्।

अनुवाद—क्रम से अनेक यज्ञों में दीक्षित होने पर भी स्वामी आहवमल्लदेव ऐन्द्रपद से भी समुन्नत पद पर आसीन होने के कारण इन्द्र की शंका का स्थान न बना।

भावार्थ—आहवमल्लदेव का स्थान इन्द्र के स्थान से भी ऊँचा था।

कोषः—'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः।

अलङ्कार—शंका का कारण रहने पर शंका रूप कार्य न होने से विशेषोक्ति अलंकार है।

चिन्तामणिर्यस्य पुरो वराकः, तथाहि वार्ता जनविश्रुतेयम्।
यत्तत्र सौवर्णतुलाधिरूढे, चक्रे स पाषाणतुलाधिरोहम् ॥ ९८ ॥

चिन्तामणिरिति—यस्य=आहवमल्लदेवस्य। पुरः=समक्षम्। चिन्तामणिः=रत्नविशेषः। वराकः=अगण्यः। तथाहीत्युदाहरति इयम्=अग्रे वर्ण्यमाना। वार्ता=उदन्तः। जनेषु=लोकेषु। विश्रुता=प्रथिता। यत् तत्र=आहवमल्लदेवे। सौवर्णतुलाधिरूढे=सुवर्णतुलापुरुषदानार्थं सौवर्णतुलेतिस्वर्णतुलायामारूढे सति। सः=चिन्तामणिः। पाषाणतुलाधिरोहं=पाषाणमानकेन सहैव तुलाधिरोहम् चक्रे=प्राप्तः। चिन्तामणिश्चिन्तितानेवार्थान् प्रयच्छति। न स विचारयति, किमेते मत्प्रदत्तपदार्थग्रहणयोग्या अयोग्या वेति। आहवमल्लदेवस्तु अचिन्तितानप्यर्थान् प्रायच्छदिति भावः। उपमानस्य चिन्तामणेः राजरूपोपमेयापेक्षया अपकर्षप्रतिपादनाद् व्यतिरेकालङ्कारः। 'उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' इति लक्षणम्।

अन्वयः—यस्य पुरः चिन्तामणिः वराकः, तथाहि इयं वार्ता जनविश्रुता, यत् तत्र सौवर्णतुलाधिरूढे (सति) सः पाषाणतुलाधिरोहं चक्रे।

अनुवाद—जिसके सामने चिन्तामणि नामक रत्न दीन हो गया—यह जनविश्रुत है। क्योंकि वह (आहवमल्लदेव) तो (तुलादान के समय) स्वर्ण तुला पर अधिरूढ होता था, (पर तब) चिन्तामणि पाषाण तुला पर ही तुलता था।

भावार्थ—चिन्तामणि से सोची हुई वस्तु ही मिलती है, पर राजा याचक आदि को उनकी चिन्तित-अचिन्तित यावत् वस्तु दे देता था। इसीलिये राजा तो सोने से तुलता था, पर चिन्तामणि का परिमाण तो पत्थर की बाट से ही होता था।

कोषः—'तुला सादृश्यमानयोः। गृहाणां दारुबन्धाय पीठिकायामपीष्यते ॥ राशौ वलशते भाण्डे' इति विश्वः।

अलंकार—चिन्तामणि उपमान में राजरूप उपमेय की अपेक्षा अपकर्ष प्रतिपादन के कारण व्यतिरेक अलंकार है ॥ ९८ ॥

विधाय रूपं मशकप्रमाणं, भयेन कोणे क्वचन स्थितस्य।
कलेरिवोत्सारणकारणेन, यो यागधूमैर्भुवनं रुरोध ॥ ९९ ॥

विधायेति—भयेन=भीत्या। मशकप्रमाणम्=मशकः प्रमाणम् यस्य तत् मशकतुल्यम्। 'प्रमाणं हेतुमर्यादाशास्त्रेयत्ताप्रमातृषु' इत्यमरः। 'दंशः कीटविशेषे च वर्मदंशनयोः पुमान्' इति मेदिनी। रूपं=शरीरम्। विधाय=निर्माय। क्वचन=कस्मिंश्चित्। कोणे=गृहादीनामकदेशे। स्थितस्य=आत्मानमपावृत्य वसतः। कलेः=कलियुगस्य। उत्सारणकारणेन=अपसारणार्थम्। यः=आहवमल्लदेवः। यागधूमैः=मखधूमैः। भुवनं=लोकं। रुरोध=आच्छादितवान्। कलिप्रभावापसारणार्थं यज्ञाः, मशकापसारणार्थं धूमश्च क्रियते। अत्र कलेरुत्सारणस्य हवनधूमकृतभुवनरोधप्रयोजनत्वेनोत्प्रेक्षणात् उत्प्रेक्षा अलङ्कारः।

अन्वयः—भयेन मशकप्रमाणं रूपं विधाय क्वचन कोणे स्थितस्य कलेः उत्सारणकारणेन यः यागधूमैः भुवनं रुरोध।

अनुवाद—जिसने भय से मच्छर का रूप धारण कर किसी कोने में छिपे कलियुग को भगाने के लिये ही मानो यज्ञ के धुएँ से संसार को आच्छादित कर दिया।

भावार्थ—जैसे धुएँ से मच्छर भाग जाते हैं, उसी प्रकार यज्ञ धूम से कलि, जो मशक के बराबर ही उस समय रहा होगा, वह भी भाग गया।

कोषः—'प्रमाणं हेतुमर्यादाशास्त्रेयत्ताप्रमातृषु' इत्यमरः। 'दंशः कीटविशेषे च वर्मदंशनयोः पुमान्' इति मेदिनी।

अलङ्कार—कलियुग को भगाने के लिए यज्ञधूम से भुवनाच्छादन के उत्प्रेक्षण से उत्प्रेक्षालंकार है ॥ ९९ ॥

स्वाभाविकादुष्णगभस्तिभासः, क्षत्रोष्मणो दृष्टिविघातहेतोः।
यस्मिन् परित्रस्त इति क्षितीन्द्रे, क्षणं न चिक्षेप कलिः कटाक्षम् ॥१००॥

स्वाभाविकादिति—कलिः=कलियुगं। स्वाभाविकात्=नैसर्गिकात्। उष्णगभस्तिभासः=उष्णाः तप्ताः, गभस्तिभासः किरणकान्तयः, यस्य तस्मात् रवेः इव इति शेषः। क्षत्रोष्मणः=क्षात्रतेजसः। दृष्टिविघातहेतोः=दृष्टिविनाशात् परित्रस्तः=भीत इति। यस्मिन् क्षितीन्द्रे=भूपतौ, आहवमल्लदेवे। क्षणं=मुहूर्तं। कटाक्षम्=दृष्टिं। न चिक्षेप=स्वदृष्टिविनाशभयेन कलिना मुहूर्तमपि आहवमल्लदेवो नावलोकित इति भावः। अत्र क्षत्रोष्मणः उष्णगभस्तिना सूर्येण सादृश्यप्रतिपादनात् उपमालङ्कारः।

अन्वयः—कलिः स्वाभाविकात् उष्णगभस्तिभासः (इव) क्षत्रोष्मणः दृष्टिविघातहेतोः परित्रस्त इति यस्मिन् क्षितीन्द्रे क्षणं कटाक्षं न चिक्षेप।

अनुवाद—कलियुग ने नैसर्गिक उष्ण किरणों वाले सूर्य (के समान प्रखर) क्षात्र तेज के कारण दृष्टि के विनाश के डर से क्षणमात्र के लिए भी आहवमल्लदेव की ओर दृष्टि नहीं डाली।

भावार्थ—परम तेजस्वी सूर्य की ओर देखने से जैसे दृष्टि ही खराब हो जाती है, वैसे ही परमतेजस्वी उस राजा की ओर अपनी दृष्टि नाश के भय से कलि ने कभी दृष्टि ही न डाली।

कोषः—'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भा भाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः। 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ कटाक्षोऽपाङ्गदर्शने' इत्यमरः।

अलङ्कार—यहाँ क्षत्रोष्मा को उष्णकिरण सूर्य से तुलना के कारण उपमा अलंकार है ॥ १०० ॥

अन्यायमेकं कृतवान् कृती यः, चालुक्यगोत्रोद्भववत्सलोऽपि।
यत्पूर्वभूपालगुणान् प्रजानाम्, विस्मारयामास निजैश्चरित्रैः ॥ १०१ ॥

अन्यायमिति—चालुक्यगोत्रोद्भववत्सलोऽपि = चालुक्यगोत्रे चालुक्यकुले उद्भवः जन्म येषान्तेषु वत्सलः प्रेमयुक्तोऽपि। कृती = पुण्यवान् दक्षश्च। यः = आहवमल्लदेवः। एकम् अन्यायम् = अनुचितम्। कृतवान् = चकार। यत् = यस्मात्। निजैः = स्वैरपि। चरित्रैः = चरितैः। पूर्वभूपालगुणान् = पूर्वे च ते भूपालाश्च पूर्वभूपालाः स्वस्मात् पूर्वतना नृपास्तेषां गुणास्तान्। प्रजानां = जनानां। विस्मारयामास = आहवमल्लदेवगुणानवलोक्य सर्वो जनः पूर्वभूपालानां गुणान् विसस्मारेत्यर्थः। एकस्य अन्यायस्य आचरणात् आदौ निन्दायाः प्रतीतिः, पर्यवसाने तु राज्ञः प्रभावप्रशंसा प्रतीयते। अतोऽत्र व्याजस्तुतिरलङ्कारः। 'उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः' इति लक्षणम् ॥

अन्वयः—चालुक्यगोत्रोद्भववत्सलोऽपि कृती यः एकम् अन्यायं कृतवान्, यत् निजैः चरित्रैः पूर्वभूपालगुणान् प्रजानां विस्मारयामास।

अनुवाद—चालुक्य वंश में समुत्पन्न (अपने पूर्वजों) पर अत्यन्त प्रेमी होने पर भी कुशल जिससे एक अन्याय हो गया, उसने अपने चरित्र से पहले उत्पन्न राजाओं के गुणों को प्रजा से भुलवा दिया।

भावार्थ—चालुक्य वंश में पहले उत्पन्न राजाओं के गुण भी प्रजा ने भुला दिये। इस राजा के गुण इतने महान् और हृदयग्राही थे कि स्वयं चालुक्य वंश के पूर्व राजाओं के गुण भी उनके सम्मुख ठहर न सके।

कोषः—'लक्ष्मीवान् लक्ष्मणः श्रीलः श्रीमान् स्निग्धस्तु वत्सलः' इत्यमरः।

अलङ्कार—'एक अन्याय' करने से तो पहले तो निन्दा की प्रतीति होती है, किन्तु पर्यवसान में प्रशंसा प्रतीत होने से व्याजस्तुति अलंकार है ॥ १०१ ॥

विशीर्णकर्णा कलहेन यस्य, पृथ्वीभुजङ्गस्य निरर्गलेन।
सञ्चरत्तेऽद्यापि न डाहलश्रीः, कर्पूरताटङ्कनिभैर्यशोभिः ॥ १०२ ॥

विशीर्णेति—पृथ्वीभुजङ्गस्य यस्य = पृथिव्याः धरित्र्या भुजङ्गस्य राज्ञः कामुकस्य च यस्य। निरर्गलेन = निर्गता अर्गला प्रतिबन्धो यस्मात्, तेन अप्रतिहतेन निष्प्रतिबन्धेन च। कलहेन = युद्धेन विवादेन च। 'अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहौ' इत्यमरः। विशीर्णकर्णा = विशीर्णौ

नष्टश्छिन्नश्च, कर्णस्तन्नामधेयो डाहलाधिपः=चेदिदेशाधिपतिः गाङ्गेयदेवतनयः कर्ण इति प्रसिद्धः, श्रोत्रञ्च यस्याः सा। डाहलश्रीः=डाहलराजलक्ष्मीः। कर्पूरताटङ्कनिभैः=कर्पूरकृतकर्णभूषणतुल्यैः। यशोभिः=कीर्तिभिः। अद्यापि=अधुनापि। न सङ्गच्छते न शोभते, न युक्ता वा भवति। यशसः कर्णपूरताटङ्केन सादृश्यादुपमालङ्कारः॥

अन्वयः—पृथ्वीभुजङ्गस्य यस्य निरर्गलेन कलहेन विशीर्णकर्णा डाहलश्रीः कर्पूरताटङ्कनिभैः यशोभिः अद्यापि न सङ्गच्छते।

अनुवाद—पृथ्वी के भुजंग (राजा-पक्षान्तर में कामुक) के अप्रतिहत रूप से (निरन्तर) चलने वाले कलह के कारण विनष्ट कर्ण नामक (राजा, कान) वाली, डाहलदेश की राजलक्ष्मी, कपूर के कर्णाभूषण की कान्ति के सदृश धवल यश से अभीतक युक्त न हो पायी।

भावार्थ— आहवदेवमल्ल ने कर्णनामक डाहल नरेश को विनष्ट कर दिया। 'कर्ण' पद के श्लेष से यही बात कही जा रही है।

कोषः—'वेश्यापतिर्भुजङ्गः स्यात् पिङ्गः पल्लविको विटः' इत्यमरः।

अलंकार—यहाँ यश का कर्पूरताटङ्क से सादृश्य होने से उपमा अलंकार है॥ १०२॥

कर्णे विशीर्णे कलहेन यस्य, पृथ्वीभुजङ्गस्य निरर्गलेन।
कीर्तिः समाश्लिष्यति डाहलोर्वी, न दन्तताटङ्कनिभाऽधुनापि॥ १०३॥

कर्ण इति—पृथ्वीभुजङ्गस्य=पृथ्व्याः भूमेः, भुजङ्गस्य राज्ञः कामुकस्य च। यस्य=आहवमल्लदेवस्य। निरर्गलेन=निष्प्रतिबन्धेन कलहेन। कर्णे=एतन्नामके डाहलदेशाधिपे श्रोत्रे च विशीर्णे=नष्टे (सति)। दन्तताटङ्कनिभा=हस्तिदन्तरचितताटङ्कसदृशी। कीर्तिः=यशः। अधुनापि=अद्यापि। डाहलोर्वीं=डाहलराजभूमिम् चेदिदेशमिति यावत्। न समाश्लिष्यति=नालिङ्गति। गजदन्तताटङ्केन, कीर्त्तेः धवलतया साम्यादुपमा। भुजङ्गकर्णपदयोः श्लिष्टत्वात् कामिनीरूपाऽप्राकरणिकार्थेन डाहलोर्वीरूपप्राकरणिकार्थस्योपमानोपमेयभावो व्यङ्ग्यः। अतोऽत्र शब्दशक्तिमूलध्वनिः समासोक्तिर्वा॥

अन्वयः—पृथ्वीभुजङ्गस्य यस्य निरर्गलेन कलहेन कर्णे विशीर्णे (सति) दन्तताटङ्कनिभा कीर्तिः अधुनापि डाहलोर्वीं न समाश्लिष्यति।

अनुवाद—पृथ्वी के राजा आहवमल्लदेव के सीमातीत युद्ध से, डाहल (बुन्देलखंड) के नृपति कर्ण के नष्ट हो जाने पर, हाथी दाँत के बने कर्णाभूषण के समान श्वेत यश, अभी तक डाहल की भूमि का आलिंगन नहीं कर रहा है।

भावार्थ—आहवमल्लदेव के युद्ध से कर्ण के विशीर्ण होने से डाहलदेश में डाहलराज की कीर्ति न फैल सकी।

कोषः—'सर्वसहा वसुमती वसुधोर्वी वसुन्धरा' इत्यमरः।

अलङ्कार—गजदन्त ताटंक से कीर्ति के सादृश्य के कारण उपमा है। भुजंग एवं कर्णपद के श्लेष से कामिनीरूप अप्राकरणिक अर्थ का डाहलभूरूप प्राकरणिक अर्थ के साथ उपमानोपमेय भाव व्यंग्य है। अतः यहाँ शब्दशक्तिमूल ध्वनि अथवा समासोक्ति है॥ १०३॥

यस्यासिरत्युच्छलता रराज, धाराजलेनेव रणेषु धाम्ना ।
दृप्तारिमातङ्गसहस्रसङ्गाम्, अभ्युक्ष्य गृह्णन्निव वैरिलक्ष्मीम् ॥ १०४ ॥

यस्येति—यस्य = राज्ञः । असिः = करवालः । अत्युच्छलता = नितान्तमूर्ध्वं गच्छता । धाराजलेनेव = कृपाणधाराजलेन इव । धाम्ना = तेजसा । दृप्तारिमातङ्गसहस्रसङ्गाम् = दृप्ताः ये अरिमातङ्गाः शत्रुगजाः प्रतिपक्षिभूताश्चाण्डालाश्च, तेषां सहस्रं, तेन सङ्गो यस्यास्तां । वैरिलक्ष्मीं = शत्रुराज्यश्रियम् । अभ्युक्ष्य = संसेचनं कृत्वा प्रक्षाल्येत्यर्थः । गृह्णन् = स्वीकुर्वन्निव, रराज = शुशुभे । यथा चाण्डालस्पर्शात् अशुद्धं वस्तु जलेन प्रक्षाल्य गृह्यते, तथाऽत्रापि मातङ्गसहस्रसम्पर्कापूतवैरिलक्ष्मीः धाराजलेन पवित्रीकृत्य गृहीता । धाराजलेन सह धाम्नः सादृश्यप्रतिपादनादुपमा । मातङ्गशब्देन गजानां चाण्डालानाञ्च ग्रहणात् श्लेषालङ्कारः । खड्गे वैरिलक्ष्मीप्रक्षालनपूर्वकग्रहणक्रियाया उत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा, अतस्तेषां सङ्करः ।

अन्वयः—यस्य असिः अत्युच्छलता धाराजलेनेव धाम्ना दृप्तारिमातङ्गसहस्रसङ्गां वैरिलक्ष्मीम् अभ्युक्ष्य गृह्णन् इव रराज ।

अनुवाद—आहवमल्लदेव का कृपाण उच्छल धाराजल के समान तेज से मतवाले हजारों शत्रुमातंगों (हाथी, चाण्डाल) का सम्पर्क प्राप्त कर शत्रुराजलक्ष्मी को मानो प्रक्षालितकर ग्रहण करता हुआ सा शोभित हुआ ।

भावार्थ—इस राजा ने अपने कृपाण के बल से शत्रुओं के हजारों गजराजों के साथ उनकी राजलक्ष्मी पर अधिकार कर लिया ।

कोषः—'मातङ्गः श्वपचे गजे' इति मेदिनी ।

अलंकार—धाराजल के साथ तेज के सादृश्य के कारण उपमा है । मातंग शब्द से गज और चाण्डाल अर्थ के ग्रहण से श्लेष है । खड्ग में शत्रुलक्ष्मी के प्रक्षालनपूर्वक स्वीकार का उत्प्रेक्षण होने से उत्प्रेक्षा है ॥ १०४ ॥

यद्वैरिसामन्तनितम्बिनीनां, अश्रान्तसन्तापकदर्थ्यमाने ।
पराङ्मुखं शोषविशङ्कयेव, कुचस्थले कुङ्कुमपङ्कमासीत् ॥ १०५ ॥

यदिति—यद्वैरिसामन्तनितम्बिनीनाम् = यस्य आहवमल्लदेवस्य वैरिणः रिपवः ये सामन्ताः अधीना राजानः तेषां नितम्बिन्योऽङ्गनाः तासाम् । अश्रान्तसन्तापकदर्थ्यमाने = अश्रान्तः अविरतः सन्तापः परिभवतापस्तेन कदर्थ्यमाने तप्ते । कुचस्थले = स्तनदेशे । शोषविशङ्कया = शोषणस्य विशङ्कया संदेहेन इव । कुङ्कुमपङ्कं = काश्मीरजलेपः । पराङ्मुखं = विमुखमासीत् । अत्र स्तनयोः कुङ्कुमपङ्कस्य पराङ्मुखत्वे स्तनशोषशङ्काया हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणात् हेतूत्प्रेक्षा ।

अन्वयः—यद्वैरिसामन्तनितम्बिनीनाम् अश्रान्तसन्तापकदर्थ्यमाने कुचस्थले शोषविशङ्कया इव कुङ्कुमपङ्कं पराङ्मुखमासीत् ।

अनुवाद—जिसके शत्रुसामन्तों की रमणियों के निरन्तर संताप से पीडित उरोजस्थलों पर केशर का लेप शुष्क हो जाने के भय से विमुख हो गया था ।

भावार्थ—शत्रुरमणियाँ निरन्तर संतप्त रहती थीं और इस सन्ताप ने उनका शृंगार विलास आदि सब कुछ भुला दिया।

कोष:—'सन्तापः संज्वरः समौ' इत्यमरः।

अलङ्कार—यहाँ स्तनदेश पर कुकुंम लेप के विमुखत्व में शोष की शंका हेतु रूप में उत्प्रेक्षित करने के कारण हेतूत्प्रेक्षा है॥ १०५॥

एकत्र वासादवसानमाजः, ताम्बूललक्ष्म्या इव संस्मरन्ती।
वक्त्रेषु यद्वैरिविलासिनीनां, हासप्रभा तानवमाससाद॥ १०६॥

यद्वैरीति—यद्वैरिविलासिनीनाम्=यस्य आहवमल्लस्य, वैरिणाम् शत्रूणां विलासिन्यः रमण्यस्तासां। वक्त्रेषु-मुखेषु। एकत्र वासात्=एकत्र वक्त्राख्यैकस्मिन् स्थाने। वासात्-स्थितेः। अवसानभाजः=अवसानं भजते सा अवसानभाक् तस्याः समाप्तायाः। ताम्बूललक्ष्म्याः= ताम्बूलशोभायाः। संस्मरन्ती=चिन्तयन्ती। इव। हासप्रभा=स्मितकान्तिः। तनोर्भावस्तानवं=तनुत्वं, कृशत्वमित्यर्थः। आससाद=प्राप्ता। पतिवियोगात् ताम्बूलग्रहणं त्यक्तम् तेन सहैव हास्यमपि लुप्तमिति यावत्। अत्र हासप्रभायाः लक्ष्मीसमाप्तिस्मरणस्य हासप्रभातनुत्वप्राप्तौ च हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणात् हेतूत्प्रेक्षा। अप्राकरणिकसखीवृत्तान्तस्य प्राकरणिकहासप्रभावृत्तान्तेऽभेदारोपात् समासोक्तिरलङ्कारः।

अन्वयः—यद्वैरिविलासनीनां वक्त्रेषु एकत्रवासात् अवसानभाजः ताम्बूललक्ष्म्याः संस्मरन्ती इव हासप्रभा तानवम् आससाद।

अनुवाद—जिस आहवमल्लदेव के शत्रुनृपों की स्त्रियों के आननों में एक साथ रहने वाली हास्यकान्ति (अपनी सङ्गिनी) ताम्बूल शोभा को (लुप्त हुई देख) मानो उसकी याद में स्वयं कृश हो गई।

भावार्थ—शत्रुनारियों के मुख पर से ताम्बूल की शोभा और हँसी दोनों ही एक साथ लुप्त हो गयी।

कोषः—'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः।

अलंकार—यहाँ ताम्बूलशोभा के स्मरण को हासप्रभा की तुलना के हेतु रूप में उत्प्रेक्षित किया गया है। अतः हेतूत्प्रेक्षा है। अप्राकरणिक सखीवृत्तान्त का हास वृत्तान्त पर अभेदारोप करने से समासोक्ति भी है॥ १०६॥

यं वारिधिः प्रज्वलदस्त्रजालं, वेलावनान्तेषु नितान्तभीतः।
भूयः समुत्सारणकारणेन, समागतं भार्गवमाशशङ्के॥ १०७॥

यमिति—नितान्तभीतः=नितान्तम् अत्यन्तं, भीतः भयाकुलः। वारिधिः=जलनिधिः। प्रज्वलदस्त्रजालम्=प्रज्वलन्ति प्रदीप्तानि, अस्त्रजालानि अस्त्रसमूहाः यस्य तं प्रदीप्तास्त्रसमूहं। यं=आहवमल्लदेवं। वेलावनान्तेषु—समुद्रतटवनप्रान्तेषु। समुत्सारणकारणेन=निःसारणहेतुना। भूयः=पुनः। समागतं=समायातं। भार्गवं=भृगुकुलोत्पन्नं परशुरामम्। आशशङ्के= शङ्कितवान्।

अन्वयः—नितान्तभीतः वारिधिः प्रज्वलदस्त्रजालं यं वेलावनान्तेषु समुत्सारणकारणेन भूयः समागतं भार्गवमाशशङ्के ।

अनुवाद—अत्यन्त भीत समुद्र प्रदीप्त अस्त्रजाल युक्त जिसे (देख) तट के वनप्रान्त में, हटाने के लिये फिर से आ गए, परशुराम की आशंका करने लगा।

भावार्थ—जिस प्रकार समुद्र को हटाने के लिये तेजस्वी परशुराम ने विस्मयकारी शौर्य प्रदर्शित किया था, वैसा ही समुद्रतट पर इस नरेश का भी शौर्य था।

कोषः—'अब्ध्यम्बुविकृतौ वेला कालमर्यादयोरपि' इत्यमरः।

विशेष—यहाँ पर कोंकण देश के पूर्व समुद्र को हटाकर भगवान् परशुराम ने अपना निवास बनाया—यह पौराणिक कथा का उपयोग किया गया है ॥ १०७ ॥

रत्नोत्करग्राहिषु यद्भटेषु, तटत्रुटन्मौक्तिकशुक्तिभङ्ग्या ।
अस्फोटयत्तीरशिलातलेषु, रोषेण मूर्धानमिवाम्बुराशिः ॥ १०८ ॥

रत्नोत्करेति—अम्बुराशिः=समुद्र इति । यद्भटेषु=यस्य आहवमल्लदेवस्य, भटाः वीरास्तेषु । रत्नोत्करग्राहिषु=रत्नानाम् , उत्करास्तान् ग्रहीतुं शीलं येषान्तेषु मणिराशिग्रहण-शीलेषु (सत्सु)। तटत्रुटन्मौक्तिकशुक्तिभङ्ग्या=वेलास्फुटन्मुक्ताशुक्तिव्याजेन । तीरशिलात-लेषु=तीरस्थितपाषाणेषु । रोषेण=क्रोधेन । मूर्धानं=मस्तकम् । अस्फोटयदिव=अखण्डय-दिव । अत्र समुद्रे शिरःस्फोटनस्य क्रियाया उत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा । नैताः स्फुटितमुक्ताशुक्तयः किन्तु समुद्रशिरःस्फोटनमिति प्रतीत्या प्रतीयमानाऽर्थापह्नुतिरुत्प्रेक्षाङ्गम् । अतः अपह्नुतिमूलको-त्प्रेक्षालङ्कारः । 'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः' इति लक्षणम् ।

अन्वयः—अम्बुराशिः यद्भटेषु रत्नोत्करग्राहिषु (सत्सु) तटत्रुटन्मौक्तिकशुक्तिभङ्ग्या तीरशिलातलेषु रोषेण मूर्धानम् अस्फोटयदिव ।

अनुवाद—जिसके वीरों द्वारा रत्नराशि ले लिये जाने पर समुद्र (अपने) तट पर टूटती मोतियों की सीपों के बहाने से तट की शिलाओं पर मानों क्रोध से शिर को ही फोड़ने लगा।

भावार्थ—आहवमल्लदेव की सेनाओं ने समुद्रपर्यन्त पृथ्वी को जीत कर समुद्र से रत्न आदि निकाले।

कोषः—'पुञ्जराशी उत्करः कूटमस्त्रियाम्' इत्यमरः।

अलंकार—टूटी सीपियाँ नहीं, अपितु समुद्र का सिर फूटा है—यह प्रतीति होने से प्रतीयमान अपह्नुति है। अतः एतन्मूला उत्प्रेक्षा माननी चाहिए ॥ १०८ ॥

यं वीक्ष्य पाथोधिरधिज्यचापं, शोणाश्मभिः शोणितशोणदेहैः ।
क्षोभादभीक्ष्णं रघुराजबाण-जीर्णव्रणस्फोटमिवाचचक्षे ॥ १०९ ॥

यमिति—पाथोनिधिः=पाथांसि जलानि धीयन्ते अस्मिन्निति पाथोधिः समुद्रः । यम्= आहवमल्लदेवम् । अधिज्यचापम्=ज्यां मौर्वीमधिगतः अधिज्यः, तादृशश्चापः यस्य तम् । वीक्ष्य=अवलोक्य । शोणितशोणदेहैः=शोणित इव शोणो देहो येषां तैः, रुधिरवद्रक्तशरीरैः।

शोणाश्मभिः = पद्मरागमणिभिः। क्षोभात् = खेदात्, रघुराजवाणजीर्णव्रणस्फोटमिव = रघुराजस्य बाणस्तेन जातो जीर्णो यो व्रणस्तस्य स्फोटस्तम् रामवाण-प्रहारजन्यजीर्णव्रणसन्धिभेदमिव। अभीक्ष्णं = शश्वत्। आचचक्षे = रामशरप्रहारजन्यव्रणानि नाद्यापि पूर्णानि, अतो भवता बाणसन्धानं न कार्यम् इति प्रार्थितवानिव। अत्र रक्तमणिषु जीर्णव्रणस्फोटस्य संभावनादुत्प्रेक्षालंकारः।

अन्वयः—पाथोधिः यम् अधिज्यचापं वीक्ष्य शोणितशोणदेहैः शोणाश्मभिः क्षोभात् रघुराजवाणजीर्णव्रणस्फोटमिव अभीक्ष्णम् आचचक्षे।

अनुवाद—जिस आहवमल्लदेव को चढ़ी डोरवाले धनुष को देखकर रक्त की तरह लाल पद्मराग मणियों के द्वारा श्रीराम के बाण से उत्पन्न हुए उस पुराने व्रण को ही मानों क्षोभ से समुद्र निरन्तर दिखाता रहा।

भावार्थ—समुद्र की पद्मरागमणियाँ मानो उसका लाल-लाल घाव थीं, जो राम के शर प्रहार से बने थे, उन्हीं को अब दिखाकर वह शरसन्धान से मना कर रहा था।

कोषः—'रुधिरेऽसृग्लोहितास्ररक्तक्षतजशोणितम्' इत्यमरः। 'अभीक्ष्णं शश्वदनारते' इत्यमरः।

अलंकार—लाल पद्मराग में पुराने व्रण के स्फोट की सम्भावना से उत्प्रेक्षा है ॥१०९॥

राशीकृतं विश्वमिवावलोक्य, वेलावने यस्य चमूसमूहम्।
अम्भोविभूतेरपरिक्षयेण, क्षारत्वमब्धिर्बहु मन्यतेस्म ॥ ११० ॥

राशीकृतमिति—अब्धिः = समुद्रः। वेलावने = तटावने। यस्य = आहवमल्लदेवस्य। चमूसमूहं = सैन्यसमूहम्। राशीकृतम् = एकत्रीकृतं। विश्वमिव = भुवनमिव। अवलोक्य = दृष्ट्वा। अम्भोविभूतेः = जलसमृद्धेः। अपरिक्षयेण = क्षयाभावेन। क्षारत्वं = लवणत्वं। बहु = श्रेष्ठं। मन्यतेस्म = मेने। अन्यथा सैन्यसमूहपानेन जलनिधिरपि नामशेष एव स्यात्।

अन्वयः—अब्धिः वेलावने यस्य चमूसमूहं राशीकृतं विश्वमिव अवलोक्य अम्भोविभूतेः अपरिक्षयेण क्षारत्वं बहुमन्यते स्म।

अनुवाद—अपने तटवर्ती वनों में एकत्र (समस्त) विश्वसरीखे सैन्य समूह को देख तथापि अपनी जल सम्पत्ति का क्षय होता हुआ न पाकर समुद्र अपने जल की क्षारता को बहुत (उचित) मानने लगा।

भावार्थ—यदि समुद्र का जल क्षार न होता, तो सेना समुद्र को पी जाती। सेना की विशालता प्रकट की जा रही है।

कोषः—'ध्वजिनी वाहिनी सेना पृतनाऽनीकिनी चमूः' इत्यमरः ॥ ११० ॥

उत्तंभयामास पयोनिधेर्यः, तीरे जयस्तंभमदम्भवीरः।
असूयितं स्वैरविहारशीलैः, आलानभीत्या जलवारणेन्द्रैः ॥ १११ ॥

उत्तम्भयामासेति—अदम्भवीरः = अदम्भ आडम्बरहीनश्चासौ वीरश्च। यः = आहवमल्लदेवः। पयोनिधेः = जलनिधेः। तीरे = तटे। स्वैरविहारशीलैः = स्वच्छन्दविहरणस्वभावैः।

जलवारणेन्द्रैः = जलगजश्रेष्ठैः । आलानभीत्या = करिबन्धनस्तंभभयेन । असूयितम् = दोषाविष्करणान्निन्दितम् । जयस्तम्भम् = विजयसूचकयूपम् । उत्तंभयामास = प्रातिष्ठिपत् । अत्र जयस्तम्भे समुद्रगजानामालानभ्रान्तिजननाद् असूयेति प्रतीत्या भ्रान्तिमानलंकारो व्यङ्ग्यः ।

अन्वयः—अदम्भवीरः यः पयोनिधेः तीरे स्वैरविहारशीलैः जलवारणेन्द्रैः आलानभीत्या असूयितं जयस्तम्भम् उत्तंभयामास ।

अनुवाद—दम्भरहितवीर जिसने समुद्र तट पर स्वच्छन्द विहारशील जलहस्तियों द्वारा, आलान-स्तम्भ (हाथी बांधने का खूँटा) के भय से, असूया के पात्र-से बने विजयस्तम्भ को खड़ा करवाया ।

भावार्थ—समुद्र तट पर आहवमल्लदेव ने विशाल आलानस्तम्भ की तरह विजयस्तम्भ लगवाया ।

कोपः—'तोत्रं वेणुकमालानं बन्धस्तम्भेऽथ शृङ्खले' इत्यमरः ।

अलंकार—जयस्तम्भ में आलान की भ्रान्ति के वर्णन से यहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार है ॥ १११ ॥

लब्ध्वा यदन्तःपुरसुन्दरीणां, लावण्यनिष्यन्दमुपान्तभाजाम् ।
गृहीतसारस्त्रिदशैः पयोधिः, पीयूषसन्दर्शनसौख्यमाप ॥ ११२ ॥

लब्ध्वा इति—त्रिदशैः = तृतीया यौवनाख्या दशा सदा येषान्तैः, अत्र त्रिशब्दः तृतीयार्थे यथा त्रिभागशब्देऽपि, त्रिदशैः सुरैः । गृहीतसारः = गृहीतः मन्थनेन सारस्तत्त्वममृतादि यस्य सः गृहीतसारः हृतसर्वस्वः । पयोधिः = समुद्रः । यस्य = राज्ञः । अन्तःपुरसुन्दरीणाम् = अवरोधपुरन्ध्रीणाम् । उपान्तभाजां = समीपवर्तिनीनाम्परिचारिकाणामित्यर्थः । लावण्यनिष्यन्दं = लावण्यस्य चारुतायाः निष्यन्दः रसस्तं । लब्ध्वा = प्राप्य । पीयूषसन्दर्शनसौख्यम् आप = पीयूषस्य सुधायाः संदर्शनं तस्य सौख्यमानन्दस्तत् आप । प्राप्तवान् । अमृतस्य अपहारात् स्वसमीपे तस्य अभावात् सम्प्रति तदवरोधजनसेविकालावण्यामृतं विलोक्य पयोधिः पूर्वमानन्दम्प्राप्तवान् इत्यर्थः । स्त्रीणां लावण्यस्य पीयूषेण साम्यदर्शनात् उपमालङ्कारः ।

अन्वयः—त्रिदशैः गृहीतसारः पयोधिः यदन्तःपुरसुन्दरीणां उपान्तभाजां लावण्यनिष्यन्दं लब्ध्वा पीयूषसन्दर्शनसौख्यम् आप ।

अनुवाद—देवों द्वारा जिसके सारभूत रत्न, अमृतादि का अपहरण कर लिया गया है, ऐसे समुद्र ने जिसके अन्तःपुर की सुन्दरियों के समीप रहने वाली (परिचारिकाओं) के सौन्दर्य को निरखकर मानों अमृत के अवलोकन का ही सुख पाया ।

भावार्थ—समुद्र का अमृत तो छिन गया था । आज रानियों के परिचारिकाओं के लावण्यामृत को देखकर वह अमृत के दर्शन का सुख पा सका । जब परिचारिकाएँ इतनी सुन्दरी हैं, तो रानियाँ तो वर्णनातीत ही हैं—यह भाव है ।

कोपः—'अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः' इत्यमरः ॥ ११२ ॥

जयैकरागी विजयोद्यमेषु, दृष्ट्वा प्रयाणावधिमम्बुधिं यः ।
उत्कण्ठितोऽभूद्दशकण्ठशत्रु–सेतौ समस्यापरिपूरणाय ॥ ११३ ॥

जयैकरागीति—एकश्चासौ रागश्चैकरागः सोऽस्यास्तीति 'एकरागी' 'अत इनिठनौ' इति मत्वर्थीय इन् प्रत्ययः, जये एकरागी जयैकरागी विजयैककामः । 'अत्र यद्यपि कर्मधारयमत्वर्थीयाद् बहुव्रीहिरेवेष्टो लाघवात् तथाप्यर्थलाघवार्थमिह कर्मधारयान्मत्वर्थीय एव क्रियते । अर्थलाघवकर्मधारयमत्वर्थीये अभिधावृत्त्या प्रतिपत्तिर्बहुव्रीहौ तु लक्षणया । यद्वा 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः' इति प्रशंसायामिन्' इति सुचारुकाराः । विजयोद्यमेषु = विजयोद्योगेषु । प्रयाणस्य प्रस्थानस्य, अवधिः सीमा तम् अभियानसीमानम् । अम्बुधिं = सागरं । दृष्ट्वा = वीक्ष्य । दशकण्ठशत्रुसेतौ = दशकण्ठस्य दशग्रीवस्य रावणस्य शत्रुः अरातिः श्रीरामस्तस्य सेतौ । 'सेतुरालौ स्त्रियां पुमान्' इत्यमरः । समस्यापरिपूरणाय = समं कृत्स्नं तद्विषयिणीच्छा समस्या, तस्याः परिपूरणाय रामनिर्मितार्धनष्टसेतोः पुनर्निर्माणाय । उत्कण्ठितः = उत्सुकः अभूत् ।

अन्वयः—जयैकरागी यः विजयोद्यमेषु प्रयाणावधिम् अम्बुधिं दृष्ट्वा दशकण्ठसेतौ समस्यापरिपूरणाय उत्कण्ठितः अभूत् ।

अनुवाद—केवल विजय की ही इच्छा रखने वाले, जिसने अपनी प्रयास में अभिमान की सीमा बन गये समुद्र को देख रावण के शत्रु श्रीरामचन्द्र के द्वारा बाँधे गये सेतु की समस्या पूर्ति की अर्थात् नष्ट भाग को पूर्ण करने की उत्कण्ठा की ।

भावार्थ—समुद्रपर्यन्त पृथ्वी को जीतकर आगे मार्ग न देखकर आहवमल्लदेव ने श्रीराम द्वारा निर्मित सेतु के विनष्ट हो गये भाग को पुनर्निर्मित कराना चाहा ।

कोषः—'समस्या तु समासार्था' इत्यमरः ॥ ११३ ॥

दोर्दण्डदर्पाद् द्रविडप्रकाण्डं, यः सम्मुखं धावितमेकवीरम् ।
अभाजनं वीररसस्य चक्रे बाणोत्करच्छिद्रपरम्पराभिः ॥ ११४ ॥

दोर्दण्डेति—यः दोर्दण्डदर्पात् = दोषावेव दण्डौ तयोः दर्पात्, बाहुदण्डदर्पात् । 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः । सम्मुखम् = समक्षम् । धावितम् = आक्रमणाय वेगादागतम् । एकवीरम् = अद्वितीयशूरं, एकश्चासौ वीरश्च–एकवीरः 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' इति समासः । द्रविडप्रकाण्डं = द्रविडतल्लजम्, प्रकाण्डश्चासौ द्रविडश्च तत् द्रविडप्रकाण्डम्, 'प्रशंसावचनैश्च' इति समासः । 'मतल्लिका मचर्चिकाप्रकाण्डमुद्धतल्लजौ । प्रशस्तवाचकान्यमूनि' इत्यमरः । बाणोत्करच्छिद्रपरम्पराभिः = बाणराशिकृतवेधनिकरैः, वीररसस्य = वीराख्यरसस्य पानीयस्य च । अभाजनम् = अपात्रं चक्रे ।

अन्वयः—यः दोर्दण्डदर्पात् सम्मुखं धावितम् एकवीरं द्रविडप्रकाण्डं बाणोत्करच्छिद्रपरम्पराभिः वीररसस्य अभाजनं चक्रे ।

अनुवाद—बाहुदण्ड के दर्प से (आक्रमण के लिए) सम्मुख आये हुए, द्रविडों में

प्रशंसित अद्वितीय वीर (चोलदेशाधिपति) को आहवमल्लदेव ने बाणराशि से निरन्तर विद्ध करके वीररस का अपात्र बना दिया।

भावार्थ—बाण विंध जाने से चोलदेशाधिपति की वीरता स्वतः समाप्त हो गयी; जैसे छिद्रित पात्र से जल वह जाता है।

कोष:—'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः। 'मतल्लिका मचर्चिका प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ प्रशस्तवाचकान्यमूनि' इत्यमरः ॥ ११४ ॥

पृथ्वीभुजङ्गः परिकम्पिताङ्गीं, यशःपटोल्लुण्ठनकेलिकारः।
विधृत्य काञ्चीं भुजयोर्बलेन, यश्चोलराज्यश्रियमाचकर्ष ॥ ११५ ॥

पृथ्वीति—यशःपटोल्लुण्ठनकेलिकारः=यश एव चोलकीर्त्तिरेव, पटः उत्तरीयवस्त्रं, तस्य लुण्ठनम् अपहरणं, तस्य केलिः क्रीडा, तां करोति, तच्छीलः। पृथ्वीभुजङ्गः=पृथ्वीपतिः कामुकश्च। यः=आहवमल्लदेवः। काञ्चीं=चोलराजधानीं, मेखलाञ्च। विधृत्य=गृहीत्वा। परिकम्पिताङ्गीम्=भीत्यानुरागेण च परिकम्पितानि अंगानि यस्याः सा तां। चोलराज्यश्रियं=चोलराजलक्ष्मीम्। भुजयोः=बाह्वोः। बलेन=शक्त्या। आचकर्ष=आजहार। अत्र चोलराजलक्ष्मीव्यवहारे कामुकचरितस्य काञ्चीपरिग्रहेण हठादन्यनायिकासमाकर्षणरूपस्य अप्राकरणिकव्यवहारस्य अभेदप्रतीत्या समासोक्तिरलङ्कारः।

अन्वयः—यशःपटोल्लुण्ठनकेलिकारः पृथ्वीभुजङ्गः, यः काञ्चीं विधृत्य परिकम्पिताङ्गीं चोलराज्यश्रियं भुजयोर्बलेन आचकर्ष।

अनुवाद—यशरूपी उत्तरीयवस्त्र के अपहरण की केलि करने वाले पृथ्वी के भुजङ्ग (ईश तथा कामुक) ने काञ्ची (राजधानी-मेखला) को हठात् पकड़ कर कम्पित अंगों वाली चोल राज्यश्री को अपने भुजबल से खींच लिया।

भावार्थ—काञ्ची को जीत कर उसने चोलराज की कीर्ति को छीन लिया। यहाँ अप्रस्तुत कामुक द्वारा अन्यनायिकापहरण का अर्थ भी प्रतीत होता है।

कोष:—'वेश्यापतिर्भुजङ्गः स्यात् षिङ्गः पल्लविको विटः' इति अमरः।

अलंकार—चोलनृपति श्रीविषयक व्यवहार में कामुक के अन्यनायिका विषयक अप्राकरणिक व्यवहार की अभेदप्रतीति से समासोक्ति अलंकार है ॥ ११५ ॥

चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य, भालत्वचं कण्टकिनो वनान्ताः।
अद्यापि किं वाऽनुभविष्यतीति, व्यपाटयन्द्रष्टुमिवाक्षराणि ॥ ११६ ॥

चोलस्येति—कण्टकिनः=कण्टकाः सन्ति येषु ते कण्टकिनः कण्टकवन्तः। वनान्ताः=वनप्रान्तभूमयः। यद्भीतिपलायितस्य=यस्मात् आहवमल्लदेवात्, भीतिः-भयं तया, पलायितस्य=प्रद्रुतस्य। चोलस्य=चोलराजस्य। अद्यापि=इतः परमपि। किंवा अनुभविष्यतीति हेतोः। अक्षराणि=भाग्याक्षराणि। द्रष्टुं=अवलोकयितुमिव। भालत्वचं=मस्तकत्वचम्।

व्यपाटयन् = व्यदारयन् । अत्र वनान्तकण्टकद्रुमभालत्वग्विपाटने 'अद्यापि किं वाऽयमनुभविष्यतीति भाग्याक्षरदर्शनस्य प्रयोजनत्वेन उत्प्रेक्षणात्' फलोत्प्रेक्षा ।

अन्वयः—कण्टकिनो वनान्ताः यद्भीतिपलायितस्य चोलस्य अद्यापि किंवा अनुभविष्यतीति अक्षराणि द्रष्टुमिव भालत्वचं व्यपाटयन् ।

अनुवाद—जिसके भय से पलायित चोलराज की भाललिपि को मानो देखने के लिए ही—'इस बार यह और भी क्या क्या अनुभव करेगा'—यह जानने के लिए उसके भाल (माथा) की त्वचा को कण्टक भरे वनप्रदेशों ने फाड़ दिया ।

भावार्थ—आहवमल्ल से पराजित होकर शत्रु वनों में भाग गये ।

कोषः—'त्वक् स्त्री चर्मणि वल्के च गुडत्वचि विशेषतः' इति मेदिनी ।

अलङ्कार—कण्टकित वनान्तों द्वारा भालत्वक् के फाड़ने में 'अब भी क्या क्या देखेगा' इस भाग्यलिपि के देखने को फलरूप में उत्प्रेक्षित करने के कारण फलोत्प्रेक्षा है ॥ ११६ ॥

दहत्यशेषं प्रतियोगिवर्गमनर्गले यद्भुजशौर्यवह्नौ ।
प्रत्यर्थिपृथ्वीपतिचिन्त्यमानो न कोऽपि मन्त्रः प्रतिबन्धकोऽभूत् ॥११७॥

दहतीति—अनर्गले = न विद्यते अर्गलः अवरोधको यस्य तस्मिन् अप्रतिहते । यद्भुजशौर्यवह्नौ = आहवमल्लबाहुविक्रमाग्नौ । अशेषं = निखिलं । प्रतियोगिवर्गं = शत्रुवर्गं । दहति = भस्मसात्कर्तुं प्रवृत्ते सति । प्रत्यर्थिपृथ्वीपतिभिः = शत्रुराजभिः । चिन्त्यमानः = विचार्यमाणः । कोऽपि = कश्चनापि । मन्त्रः = गुह्यवादः, षाड्गुण्यचिन्तेति यावत् । प्रतिबन्धकः = अवरोधकः । नाभूत् = नाभवत् । मन्त्रेण वह्निः शाम्यति मन्त्रशक्त्या च राज्यं रक्ष्यते । भुजशौर्ये वह्नित्वारोपाद्रूपकम् । शौर्यव्यवहारे वह्निव्यवहारस्यापि अभेदप्रतिपत्तिः ।

अन्वयः—अनर्गले यद्भुजशौर्यवह्नौ अशेषं प्रतियोगिवर्गं दहति (सति) प्रत्यर्थिपृथ्वीपतिचिन्त्यमानः कोऽपि मन्त्रः प्रतिबन्धकः नाभूत् ।

अनुवाद—जब आहवमल्लदेव की भुजाओं की अप्रतिहतशौर्यवह्नि से शत्रुवर्ग जलने लगा तब उनके द्वारा चिन्तित कोई मन्त्रणा या मन्त्र उनकी रक्षा करने में समर्थ न हो सका ।

भावार्थ—जैसे प्रचण्ड अग्नि को कोई मन्त्र शान्त न कर सका हो, ऐसे ही आहवमल्लदेव के प्रचण्ड कोप को कोई मन्त्रणा शान्त न कर सकी ।

कोषः—'मन्त्रो वेदविशेषे स्याद्देवीनां च साधने गुह्यवादेऽपि च पुमान्' इति मेदिनी ।

अलंकार—भुजशौर्य में वह्नित्वका आरोप होने से रूपक है । शौर्य व्यवहार में अग्निव्यवहार की अभेदप्रतीति भी है ॥ ११७ ॥

नूनस्तस्य किमस्त्रकौशलविधौ देवस्य विक्रामतः,
पुष्पेषोरिव यस्य दुष्परिहराः सर्वैरखर्वाः शराः ।

राज्ञामप्रतिमानमेव विदधे युद्धेषु यस्योर्जित-
ज्यानिष्ठ्यूतनितान्तनिष्ठुररवप्राप्ताग्रवादो भुजः ॥ ११८ ॥

इति श्रीबिल्हणमहाकविप्रणीते विक्रमाङ्कदेवचरिते प्रथमः सर्गः ।

ब्रूम इति—सर्वैः=जनैरिति शेषः। पुष्पेषोः इव=पुष्पाणि इषवो यस्य सः तस्य कुसुमबाणस्येव। यस्य=राज्ञः। अखर्वाः=प्रबलाः। शराः=बाणाः। दुष्परिहराः=परिहर्तुमशक्याः दुष्प्रतिरोधनीयाः। विक्रामतः=पराक्रमं कुर्वतः। देवस्य=राज्ञः। तस्य=आहवमल्लदेवस्य। अस्त्रकौशलविधौ=अस्त्रप्रयोगप्रावीण्ये। किं ब्रूमः=किं वर्णयामः, तद् वाचामविषयमित्यर्थः। युद्धेषु=रणेषु। यस्य=आहवमल्लदेवस्य। ऊर्जितज्यायाः=बलवत्या मौर्व्याः, निष्ठ्यूतनितान्तनिष्ठुररवप्राप्ताग्रवादः=निष्ठ्यूतः नितान्तम् अत्यन्तं निष्ठुररवः कठोरशब्दस्तस्मिन् प्राप्तः, अग्रवादः युद्धाह्वानाय प्रथमध्वानः येन सः। भुजः=बाहुः। राज्ञां=नृपाणाम्। अप्रतिभानम्=अचेतनत्वं। विदधे=चकार। अत्र पुष्पेषोः आहवमल्लस्य च शराणां दुष्परिहरत्वधर्मसाम्यादुपमालंकारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् 'सूर्याश्वैर्मसजास्ततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इति लक्षणम्।

अन्वयः—सर्वैः पुष्पेषोः इव यस्य अखर्वाः शराः दुष्परिहराः विक्रामतः देवस्य तस्य अस्त्रकौशलविधौ किं ब्रूमः। युद्धेषु यस्य ऊर्जितज्यानिष्ठ्यूतनितान्त-निष्ठुररवप्राप्ताग्रवादः भुजः राज्ञाम्-अप्रतिभानमेव विदधे।

अनुवाद—कामबाणों के समान अप्रतिरोध्य प्रबल बाणों द्वारा पराक्रम प्रकट करते हुए उन आहवमल्लदेव के अस्त्रकौशल के विषय में क्या कहें? युद्धों में जिनकी ऊर्जित प्रत्यञ्चा से उत्पन्न नितान्त कठोर ध्वनि के प्रथम युद्धाह्वान से शत्रु राजाओं की चेतना नष्ट हो जाती थी।

भावार्थ—युद्ध में अहवमल्लदेव के धनुष की टङ्कार मात्र से ही शत्रु अचेतन हो जाते हैं, उन आहवमल्लदेव के शौर्य वर्णनातीत है।

कोषः—'ऊर्जः कार्तिके बले' इति हैमः।

अलंकार—यहाँ कामदेव के बाण और आहवमल्लदेव के बाणों में दुष्परिहरत्व समान होने से उपमा है ॥ ११८ ॥

इति विक्रमाङ्कदेवचरितमहाकाव्यस्य व्याख्यायां प्रथमः सर्गः ॥